UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180848

UNIVERSAL
LIBRARY

अज्ञेय की अन्य रचनाएँ :

कविता :

भग्नदूत

इत्यलम्

कहानी :

विपथगा

कोठरी की बात

परंपरा

उपन्यास :

शेखर : एक जीवनी [भाग १]

शेखर : एक जीवनी [भाग २]

आलोचना :

त्रिशंकु : संघर्षकालीन साहित्य

चिन्ता

'अज्ञेय'

सरस्वती प्रेस बनारस

कापीराइट १९४१
सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

प्रथमावृत्ति १९४१
द्वितीयावृत्ति १९४६
मूल्य चार रुपये

मुद्रक और प्रकाशक:
श्रीपतराय,
सरस्वती प्रेस, बनारस कैंट

भूमिका

जिन दो-एक आलोचकों ने मेरी रचनाओं पर सम्मति प्रकट करके मुझे गौरव प्रदान किया है, उनकी प्रायः यह धारणा रही है कि मैं टेकनीक को अत्यधिक महत्त्व देता हूँ। मैं नहीं कह सकता कि यह साधारण स्थापना कहाँ तक सच है, किन्तु प्रस्तुत रचना के पाठकों से मैं निवेदन करूँगा कि इसे पढ़ते समय वे टेकनीक के विचारों को, या मेरे टेकनीक के प्रति जिज्ञासु-वृत्ति को कुछ समय के लिए एक ओर रख दें। 'चिन्ता' अगर एक प्रयोग है, तो टेकनीक का प्रयोग नहीं है। मानव के प्रेम के आन्तरिक इतिहास की इस अनगढ़ कहानी की रचना में टेकनीक की दिशा में कोई असाधारण कृतित्व कभी भी मेरा लक्ष्य नहीं रहा है। कलापूर्ण उक्तियों और चमत्कारिक युक्तियों के इस युग में यदि सीधी-सीधी बात कहने को ही टेकनीक का एक नया प्रयोग मान लिया जाय तब तो बात दूसरी है, अन्यथा मेरा उद्दिष्ट यही रहा है कि क्षेत्र-विशेष में मानव के अन्तर्भावों का यथासम्भव स्वाभाविक और निराडम्बर प्रतिचित्रण कर दिया जाय।

पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध पति और पत्नी का नहीं, चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन स्त्री का सम्बन्ध—अनिवार्यतः एक गतिशील (dynamic) सम्बन्ध है। गति उसके किसी एक क्षण में हो या न हो, गतिशीलता—गति पा सकने की आन्तरिक सामर्थ्य—उसके स्वभाव में निहित है। पुरुष और स्त्री की परस्पर अवस्थिति एक कर्षण की अवस्था है। वह शक्ति आकर्षण का रूप ले ले अथवा विकर्षण का; अथवा आकर्षण और विकर्षण की विभिन्न प्रवृत्तियों के सन्तुलन द्वारा एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर ले, जिसमें बाह्यरूप से कोई गति-प्रेरणा नहीं है; किन्तु किसी-न-किसी प्रकार आन्तरिक खिचाव बना रहना अनिवार्य है। नाटकीय भाषा में हम इसे पुरुष और स्त्री का चिरन्तन संघर्ष कह सकते हैं। यही मूल संघर्ष 'चिन्ता' का विषय है। पुस्तक के दो खण्डों में क्रमशः पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण से मानवीय प्रेम के उद्भव, उत्थान, विकास, अन्तर्द्वन्द्व, ह्रास, अन्तर्मन्थन, पुनरुत्थान और चरम संतुलन की कहानी कहने का यत्न किया गया है। कहानी वर्ण्य-विषय की भाँति ही अनगढ़ है, और जैसे प्रेम-जीवन के प्रसंग गद्य-पद्यमय होते हैं वैसे

ही यह कहानी भी गद्य-पद्यमय है। दोनों खण्डों के नामों में संकेत-रूप से पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण का निर्देश है।

काव्य की रूढ़ि में 'चिन्ता' का स्थान कहाँ है, इससे मुझे विशेष प्रयोजन नहीं है। यदि उस रूढ़ि में उसके लिए कहीं भी स्थान न हो, तो भी मुझे खेद नहीं होगा। लिखते समय काव्य-रचना मेरा उद्देश्य नहीं था, और यद्यपि पुस्तक के दोनों खण्डों में कई पद्य ऐसे होंगे जो स्वतन्त्र रूप से लिखे गये थे और जो शायद कविता के नाम से स्वीकार्य भी हों, तथापि भाव-सत्य की प्रतिष्ठा को ही मैं महत्त्व देता रहा हूँ।

काव्य-रचना मूलतः अपने को अपनी अनुभूति से पृथक् करने का प्रयत्न है—अपने ही भावों के निर्व्यक्तीकरण (depersonalisation) की चेष्टा। बिना इसके काव्य निरा आत्म-निवेदन है, और सच होकर भी इतना व्यक्तिगत है कि काव्य की अभिधा के योग्य नहीं है—सर्व-जनीनता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इस दृष्टि से मैं सोचता हूँ कि शायद मेरे लिए शंकित होने की आवश्यकता नहीं है। मैं आश्वस्त भाव से कह सकता हूँ कि जो भी व्यक्ति मानवत्व की—पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व की—परिपक्वावस्था तक पहुँच चुका है, वह अनुभव करेगा कि 'चिन्ता' की भाव-धारा चेष्टित नहीं है। 'विश्वप्रिया' और 'एकायन' में पुरुष और स्त्री की जिन मनःस्थितियों का, भावों के जिस घात-प्रतिघात का, क्रमगत वर्णन या चित्रण है, वे मनःस्थितियाँ अवश्य ही परिपक्व विदग्ध मानव के भावना-जगत् में अपना प्रतिबिम्ब पायेंगी। 'भाव-सत्य की प्रतिष्ठा' से मेरा यही अभिप्राय है, और इसी के निमित्त से मैं उस सर्वजनीनता का दावा करता हूँ जो काव्य की प्रथम आवश्यकता है।

'विश्वप्रिया' में और प्रतिबिम्ब-भाव से 'एकायन' में दो-एक स्थल ऐसे हैं जहाँ पर नैतिक छिद्रान्वेषी को अश्लीलता का भान हो सकता है। मेरी व्यक्तिगत धारणा है कि सम्पूर्णता में कहीं भी अश्लीलता नहीं होती, न हो सकती है। अश्लीलता दृश्य में है या दर्शक में, यह वितर्क तो उतना ही सूक्ष्म है जितना कि यह प्रश्न कि काव्य का रस कविता में है या उसके पाठक में। ऐसे वितर्क को मैं निष्प्रयोजन मानता हूँ। मेरी समझ में अश्लीलता वहाँ है जहाँ हम सम्पूर्णता को बलात् दृष्टि से हटाकर वस्तु का खण्डशः देखते हैं—फिर वह वस्तु चाहे मानव-देह की-सी स्थूल हो, चाहे शृंगार-लीला अथवा प्रेम-चेष्टा की-सी सूक्ष्म। प्रस्तुत ग्रन्थ को भी व्यापक दृष्टि से देखने पर उसमें कहीं कोई अश्लीलता नहीं दीख पड़ेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। और जो इस व्यापक दृष्टि से

उसे नहीं देखेंगे, उन्हें तो उसमें अर्थ ही नहीं मिलेगा, और निरर्थकता से बड़ी अश्लीलता क्या होगी!

अन्त में एक बात और कहनी है। 'विश्वप्रिया' की कविताएँ प्रायः सन् १९३२–३६ की हैं, और 'एकायन' की सन् १९३४–३६ की। अर्थात् इस ग्रन्थ के और मेरे बीच में कम-से-कम पाँच वर्ष का अन्तराल है। आशा है कि पाठक और आलोचक इस बात का और इसके विभिन्न परिणामों का ध्यान रखेंगे। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं तो इसे अब उसी निर्द्वन्द्व भाव से देखूँगा जिससे बालक अपनी बनाई हुई काग़ज़ की नाव नदी में बहाकर उसे देखता है--यद्यपि निर्माण के क्षण तक वह उसके जीवन का अभिन्नतम अंग और उसके अस्तित्व का सार-सत्य थी।

—'अज्ञेय'

———

क्रम-सूची

भूमिका	...	५
विश्वप्रिया :		
समर्पण	...	११
छाया-कथा	...	१३-१५
विश्वप्रिया (१-९०)	...	१७-१००
निष्पत्ति	...	१०१
एकायन :		
समर्पण	...	१०५
छाया-कथा	...	१०७-१०८
एकायन (१-८४)	...	१११-१६९
विज्ञप्ति		१७०

———

विश्वप्रिया

इन कविताओं की
मूल प्रेरक अनुभूतियों के
सहभोक्ता को

छाया-कथा

मैं क्यों इस प्रकार अपने हृदय को चीरकर देखता हूँ ? उसमें प्रेम है या व्यथा, सुख है या दुःख, आशा है या निराशा, प्रशस्ति है या तिरस्कार, यह जानने की चेष्टा क्यों करता हूँ ? अपने को बहुत अधिक जानने से कोई लाभ नहीं होता, केवल क्लेश-ही-क्लेश होता है...

ईश्वर ने मनुष्य को आकृति और भावभंगी इसलिए दी थी कि वह अपने मन को संसार की आँखों से छिपा सके, और हृदय तथा अनुभूति दी थी ताकि वह अपनी आत्मा को अपनी ही अन्तर्दृष्टि से सुरक्षित रख सके—इसलिए नहीं कि वह अपने को खोलकर, चीर-फाड़कर अपने घाव संसार को दिखाए...ऐसा करना केवल अश्लीलता ही नहीं, यह अपनी मानवता की उपेक्षा है। हमारी सारी सभ्यता हमें आवृत करने का एक विराट् प्रयास है—शरीर को वस्त्रों से, मन को मोह से, वेदना को अध्यात्म से, अशान्ति को विश्वास से...हम सभ्य तभी तक हैं जब तक इस आवरण को छिन्न न करें—यदि हम ऐसा करते हैं तो शील के विरुद्ध ही नहीं, मानवता के विरुद्ध भी घोर पाप करते हैं...

किन्तु, वैपरीत्य में कैसा आनन्द है ? एक असभ्य जंगली, वनों में दिगम्बर रहकर उससे कहीं अधिक आनन्द पाता है जितना हम वस्त्राभूषण में सज्जित होकर···शायद इसीलिए मैं ये पन्ने लिख रहा हूँ, और लिखकर एक शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ...

× × ×

हम सभी एक ऐसे बन्धु, ऐसे प्रेयस के भूखे हैं जो हमारी त्रुटियाँ पूरी कर देगा, हम सभी अनुराग और स्नेह और प्रेम के प्यासे हैं...

यह है मेरी कहानी का अंकुर···

× × ×

मेरी कल्पना में, वह कभी दुखित, या अशान्त, या व्यथित रूप में नहीं आती थी। मैं उसे सदा प्रसन्नवदना देखता था,—और वह प्रसन्नता दुःख की अनुभूति के बाद प्राप्त किए गये सुख से उत्पन्न प्रसन्नता नहीं थी, वह थी केवल चिन्ता की अनुपस्थिति, एक कठोर, शीतल, हृदयहीन स्थिरता···उसका मुख अनेक छायाओं की रंगभूमि

था, किन्तु मैंने कभी यह नहीं सोचा था कि वे छायाएँ उस मुखपट के पार तक—उसकी अन्तरतम गुफाओं तक—पहुँचती थीं।

और मैं समझता था, मैं उसकी इस अस्पृश्यता का प्रेमी हूँ।

यों हुआ मेरी कहानी का आरम्भ...

× × ×

एक दिन, आकाश के तारों को साक्षी बनाकर हमने प्रतिज्ञाएँ की थीं। और उस दिन, वे कितनी महत्त्वपूर्ण जान पड़ती थीं—कितनी गौरवान्वित! वही जो बालू पर लिखे अक्षरों की भाँति मिट गई हैं! धिक्कार!

किन्तु मुझे, या उसे, या विधाता को, इसका निर्णायक मैं नहीं हूँ...

जीवन में बहुत-से ऐसे कठोर सत्य हैं, जो कि शायद हमारे देखने के लिए नहीं बने। मैं समझता हूँ, सत्य को सहन करने की शक्ति बहुत थोड़े व्यक्तियों में होती होगी, वह सत्य प्रिय हो अथवा अप्रिय...और शायद मनुष्य के लिए अच्छा ही है कि वह इतनी शक्ति नहीं रखता, नहीं तो जीवन की जिन विभूतियों को हम बहुत अधिक महत्त्व देते हैं वे इतनी क्षुद्र जान पड़तीं कि जीवन असम्भव हो जाता...

जीवन की रक्षा के लिए मानव के पास एक बड़ा अस्त्र है, इच्छित-विश्वास। वह जैसी इच्छा करता है, वैसा ही विश्वास कर लेता है... कवियों ने कहा है कि शंका मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है, किन्तु अगर ऐसी बात है तो हमने अपने अधिकार का कभी प्रयोग नहीं किया। मानव-जाति इतनी अधिक विश्वासी है कि अपने विवेक के विरुद्ध भी अपनी इच्छित बात पर विश्वास कर लेती है। सन्देह उठते हैं, किन्तु केवल उतने ही, जितने से अपने विश्वासों की मिठास का अनुभव हो जाय।

कभी-कभी—शायद सदी में एक बार—एक व्यक्ति ऐसा उत्पन्न हो जाता है, जिसकी कामना की अपेक्षा उसका विवेक अधिक क्रियाशील होता है और रहता है। ऐसा व्यक्ति संसार में तहलका मचा देता है, किन्तु सुखी कभी नहीं हो पाता...संसार-भर के दैन्य, दारिद्र्य, दुःख में छिपा हुआ नित्य, भैरव तथ्य उसकी आँखों के आगे नाचता रहता है, और उसे वास्तव को भुलाकर इच्छित की स्थापना का समय नहीं देता। संसार उसके काम को देखकर समझता है कि उसने बहुत कुछ किया, किन्तु इसी विवेक के आधिक्य के कारण, संसार की त्रुटियों की निकटतम अनुभूति के कारण, वह अपने-आपको ऐसा विश्वास

नहीं दिला पाता। वह आजीवन वैसा ही क्षुब्ध और अशान्त चला जाता है जैसा जीवन के आरम्भ में था...

मैंने समझ लिया, मैं भी ऐसा ही प्राणी हूँ।

यह थी मेरी कहानी की गति।

× × ×

मुझमें अपने हृदय की अनुभूति इतनी तीव्र थी कि मैंने कभी यह नहीं समझा कि उसे भी हृदय हो सकता है। मैं समझा, वह एक सुन्दर चीज़ है, साकार सौन्दर्य, किन्तु कठोर, अलग; जिसका ऊपरी आवरण मात्र स्पृश्य है...शायद—निश्चय—इसीलिए मेरे प्रेम में अवास्तविकता रहती थी, क्योंकि सुन्दर पत्थर से प्रेम नहीं किया जाता!

तब एक दिन मैंने देखा, उसके भी हृदय है, एक प्रज्वलित हृदय; तब मैंने उसके ताप में ही अपनी प्रस्तर-प्रतिमा गला डाली और एक नयी प्रतिमा का निर्माण किया—एक नयी प्रतिमा पाई—और यह नयी प्रतिमा थी एक स्त्री, मानवी—मेरी प्रेयसी, विश्वप्रिया...

और यह है मेरी कहानी का अन्त···

× × ×

और, मेरा वह अभिमान टूट गया है। मैं अपने को विश्वास से ऊपर नहीं समझता, विवेक की सत्यता के आगे कामना की सत्यता का खण्डन नहीं करता। आज मेरे हृदय में विश्वास है।

वही मैं विश्व को देना चाहता हूँ, और उसकी स्वीकृति के लिए आवश्यक है कि उस अनुभूति का एक-एक शब्द कह डालूँ...

मैं असभ्य हूँ, जंगली हूँ, दिगम्बर हूँ, पर देखो, मेरे हृदय में विश्वास है...

— —

१.

छाया, छाया, तुम कौन हो ?

ओ श्वेत, शान्त घन-अवगुण्ठन ! तुम कौन-सी आग की तड़प छिपाए हुए हो ? ओ शुभ्र, शान्त परिवेष्टन ! तुम्हारे रहःशील अन्तर में कौन-सी बिजलियाँ सोती हैं ?

वह मेरे साथ चलती है ।

मैं नहीं जानता कि वह कौन है ; कहाँ से आई है ; कहाँ जायगी ! किन्तु अपने अचल घूँघट में अपना मुँह छिपाए, अपने अचल वसनों में सोई हुई, वह मेरे साथ-ही-साथ ऐसे चल रही है जैसे अनुभूति के साथ कसक...

वह मेरी वधू है ।

मैंने उसे कभी नहीं देखा । जिस संसार में मैं रहता हूँ, उसमें उसका अस्तित्व ही कभी नहीं रहा । पर मेरा मन और अंग-प्रत्यंग उसे पहचानता है ; मेरे शरीर का प्रत्येक अणु उसकी समीपता को प्रतिध्वनित करता है !

मैं अपनी वधू को नहीं पहचानता !

मैं उसे अनन्त-काल से साथ लिवाए आ रहा हूँ, पर उस अनन्त-काल के सहवास के बाद भी हम अपरिचित हैं । मैं उस काल का स्मरण तो क्या कल्पना भी नहीं कर सकता जब वह मेरी आँखों के आगे नहीं थी ; पर वह अभी अस्फुट, अपने में ही निहित है...

वह है मेरे अन्तरतम की भूख !

वह एक स्वप्न है, इसलिए सत्य है ; वह कभी हुई नहीं, इसलिए सदा से है ; मैं उससे अत्यन्त अपरिचित हूँ, इसलिए वह सदा मेरे साथ चलती है ; मैं उसे पहचानता नहीं, इसलिए वह मेरी अत्यन्त अपनी है ; मैंने उसे प्रेम नहीं किया, इसलिए मेरा सारा चित्त उसके अदृश्य पैरों में लोटकर एक भव्य विस्मय से उसका आह्वान करता है, 'प्रिये !'

छाया, छाया, तुम कौन हो ?

२.

छाया ! मैं तुममें किस वस्तु का अभिलाषी हूँ ?

मुक्त कुन्तलों की एक लट, ग्रीवा की एक वंकिम मुद्रा और एक वेधक मुस्कान, और बस ?

छाया ! तुम्हारी नित्यता, तुम्हारी चिन्तन सत्यता क्या है ?

आँखों की एक झलक आँखें अर्थपूर्ण और रहःशील ; अतल और छलकती हुई , किन्तु फिर भी केवल आँखें - और बस ?

छाया ! मैं क्या पा चुका और क्या खोज रहा हूँ ?

मैं नहीं जानता, मैं केवल यह जानता हूँ, कि मेरे पास सब कुछ है और कुछ नहीं ; कि तुम मेरे अस्तित्व का सार हो किन्तु स्वयं नहीं हो !

३.

विश्व-नगर में कौन सुनेगा मेरी मूक पुकार—
रिक्ति-भरे एकाकी उर की तड़प रही झंकार—
'अपरिचित ! करूँ तुम्हें क्या प्यार ?'

नहीं जानता हूँ मैं तुमको,
नहीं माँगता कुछ प्रतिदान ;
मुझे लुटा भर देना है,
अपना अनिवार्य, असंयत गान ।

ओ अबाध के सखा ! नहीं मैं
अपनाने का इच्छुक हूँ ;
अभिलाषा कुछ नहीं मुझे, मैं
देने वाला भिक्षुक हूँ !

परिचय, परिणय के बन्धन से
भी घेरूँ मैं तुमको क्यों ?
सृष्टि-मात्र के वाञ्छनीय सुख !
मेरे भर हो जाओ क्यों ?

प्रेमी-प्रिय का तो सम्बन्ध
स्वयं है अपना विच्छेदी—
भरी हुई अञ्जलि मैं हूं, तुम
विश्व-देवता को वेदी !

अनिर्णीत ! अज्ञात ! तुम्हें मैं
टेर रहा हूँ बारम्बार—
मेरे बद्ध हृदय में भरा
हुआ है युगों-युगों का भार ।

सीमा में मत बँधो, न तुम
खोलो अनन्त का माया-द्वार—
मैं जिज्ञासु इसी का हूँ कि
अपरिचित ! करूँ तुम्हें क्या प्यार ?

विश्व-नगर में कौन सुनेगा मेरी मूक पुकार—
रिक्ति-भरे एकाकी उर की तड़प रही झंकार—
'अपरिचित ! करूँ तुम्हें क्या प्यार ?'

४.

सब ओर बिछे थे नीरव
छाया के जाल घनेरे
जब किसी स्वप्न-जाग्रति में
मैं रुका पास आ तेरे।

मैंने सहसा यह जाना
तू है अबला असहाया :
तेरी सहायता के हित
अपने को तत्पर पाया।

सामर्थ्य-दर्प से उन्मद
मैंने जब तुझे पुकारा—
किस ओर से बही उच्छल
यह दीप्त, विमूर्छन-धारा ?

हतसंज्ञ, विमूढ़ हुआ मैं
नतशिर हूँ तेरे आगे।
तेरी श्यामल अलकों में—
ये कञ्चन-कण क्यों जागे ?

क्यों हाय ! रुक गया सहसा
मेरे प्राणों का स्पन्दन ?
मुझको बाँधे ये कैसे
अस्पृश्य किन्तु दृढ़ बन्धन !

५.

हा, कि मैं खो जा सकूँ !
हा, कि उसके भालपर अवतंस-पद मैं पा सकूँ—
हा, कि उसके हृदय पर एकाधिकार जमा सकूँ !
टूटकर उसके करों, चिर-ज्योति में सो जा सकूँ —
हा, कि उसके चरण छूकर आत्मभाव भुला सकूँ !

यदि न इतना भी लिखा हो भाग्य में, हे वज्रने—
हाय ! देना विपिन-प्रान्तर् में कहीं बिखरा मुझे !
पूर्णता हूँ चाहता मैं ठोकरों से भी मिले —
धूल बनकर ही किसीके व्योम-भर में छा सकूँ !

६.

तेरी आँखों में क्या मद है जिसको पीने आता हूँ—
जिसको पीकर प्रणय-पाश में तेरे मैं बँध जाता हूँ ?

तेरे उर में क्या सुवर्ण है जिसको लेने आता हूँ—
जिसको लेते हृदय-द्वार की राह भूल मैं जाता हूँ ?

तेरी काया में क्या गुण है जिसको लखने आता हूँ—
जिसकी लखकर तेरे आगे हाथ जोड़ रह जाता हूँ ?

७.

आ जाना प्रिय आ जाना !
अपनी एक हँसी में मेरे आँसू लाख डुबा जाना !

हा हृत्तन्त्री का तार-तार,
पीड़ा से झंकृत बार-बार—
कोमल निज नीहार-स्पर्श से उसकी तड़प भुला जाना ।
फैला वन में घन-अन्धकार,
भूला में जाता पथ-प्रकार—
जीवन के उलझे बीहड़ में दीपक एक जला जाना ।

सुख दिन में होगी लोक-लाज,
निशि में अवगुण्ठन कौन काज ?
मेरी पीड़ा के घूँघट में अपना रूप दिखा जाना ।

दिनकर-ज्वाला को दूँ प्रतीति ?
जग-जग, जल-जल काटी निशीथ !
उषा से पहले ही आकर जीवन-दीप बुझा जाना ।
प्रिय आ जाना !

८.

आज तुमसे मिल सकूँगा, था मुझे विश्वास !
आज जब कि बबूल पर भी
सिरिस-कोमल बौर पलता --
मंजरी की प्यालियों में
ओस का मधु-दौर चलता ;
खेलती थी विजन में सुरभित मलय की साँस ।
उर भरे उल्लास ।

प्यार के उन्माद से भर,
पण्डुकी भी स्वर बदल कर,
सघन पीपल-डाल पर से
थी बुलाती प्रणय-सहचर —
छा रहा सब ओर था अनुराग का कलहास ।
वह मिलन की प्यास !

कल —झुलसते सुमन-जग में
वेदना की हूक होगी,
निरस, श्री हत तरु-शिखर पर
मूक कोकिल-कूक होगी !
खर-निदाघ-ज्वाल में जल जायगा मधुमास ।
झूठ कल की आस !

कल —जवानी की उमंगें
बिखर होंगी धूल जग में -
आज की यह कामना ही
चुभेगी बन शूल मग में !
भुवन-भर को माप लेगा काल-डग का व्यास ।
प्रलय का आभास !

दूर तुम—हा, दूर तुम – अवसान आया पास,
आज प्रलय भी पराजित—मैं नियति का दास !
आज तुमसे मिल सकूँगा था मुझे विश्वास ।

९.

ओ उशस्य ! तू जान कि कैसे अब होगा निर्वाह —
इस प्रेमी-उर में जागी है प्रिय होने की चाह !
अन्धकार में क्षीण ज्योति से पग-पग रहा टटोल —
आज चला खद्योत माँगने वाडव-उर का दाह !

१०.

व्यथा मौन, वाञ्छा भी मौन, प्रणय भी, घोर घृणा भी मौन —
हाय, तुम्हारे नीरव इंगित में अभिप्रेत भाव है कौन ?
कोई मुझे सुझा दे—
मर भी जाऊँ तो जाऊँ, संशय की आग बुझा दे !

११.

मैं अपने को एकदम उत्सर्ग कर देना चाहता हूँ, किन्तु कर नहीं पाता । मेरी इस उत्सर्ग-चेष्टा को तुम समझती ही नहीं ।

अगर मैं सौ वर्ष भी जी सकूँ, और तुम मुझे देखती रहो, तो मुझे नहीं समझ पाओगी।

इसलिए नहीं कि मैं अभिव्यक्ति की चेष्टा नहीं करता, इसलिए नहीं कि मैं अपने भावों को छिपाता या दबाता हूँ।

मैं हज़ार बार अभिव्यक्ति का प्रयत्न करता हूँ, किन्तु उसका फल मेरे भाव नहीं होते ; उनमें 'मैं' नहीं होता। वे होते हैं केवल एक छाया मात्र, मेरे मन के भावों की प्रतिक्रिया मात्र.. मेरे भावों की तत्समता उनमें नहीं होती, यद्यपि उनका एक-एक अणु मेरे किसी-न-किसी भाव से उद्भूत होता है।

मैं कवि हूँ, किन्तु मेरी प्रतिभा अभिशप्त है। संसार का चित्रण करने की सामर्थ्य रखते हुए भी मैं अपने को नहीं व्यक्त कर सकता।

१२.

मेरे उर ने शिशिर-हृदय से सीखा करना प्यार—
इसी व्यथा से रोता रहता अन्तर बारम्बार!

कठिन-कुहर-प्रच्छन्न प्राण में पावक-दाह प्रसुप्त—
पतझर की नीरसता में चिर-नव-यौवन-भंडार।
धवल मौन में अस्फुट-मधु वैभव के रंग असंख्य—
तदपि अकेला शिशिर, काल का पीड़ा-कोषागार।

मेरे प्रेम-दिवस भी मेरे जीवन के कटु भार—
मेरे उर ने शिशिर-हृदय से करना सीखा प्यार!

१३.

गए दिनों में औरों से भी मैंने प्रणय किया है—
मीठा, कोमल स्निग्ध और चिर-अस्थिर प्रेम दिया है।
आज किन्तु प्रियतम! जागी प्राणों में अभिनव पीड़ा –
यह रस किसने इस जीवन में दो-दो बार पिया है?

वृक्ष खड़ा रहता जैसे पत्ता-पत्ता बिखराकर—
वैसे झरे सभी वे मेरा अनुभव-भार बढ़ाकर—
किन्तु आज साधना हृदय की फल-सी टपक पड़ी है—
प्रियतम! इसको ले लो तुम अपना आंचल फैलाकर!

१४.

फूला कहीं एक फूल!
विटप के भाल पर,
दूर किसी एक स्निग्ध डाल पर,
एक फूल—
खिला अनजाने में।
मलय-समीर उसे पा न सकी,
ग्रीष्म की भी गरिमा झुका न सकी
सुरभि को उसकी छिपा न सकी
शिशिर की मृत्यु-धूल!

फूल था या आग थी जली जो अनजाने में !
जिसकी छुनाई देख विटप झुलस गया —
सौरभ से जिसके समीरण उलझ गया —
भव निज गौरव को भूल गया,
सुमन के तन्तु की ही फाँसी से झूल गया !

ऐसे फिर
जग की विभूतियों को छानकर,
एक तीखे घूँट ही में पानकर
लाख-लाख प्राणियों के जीवन की गरिमा
— हाय उस सुमन की छोटी-सी परिमा !—
मूर्च्छित हो कुसुम स्वयं ही वह चू पड़ा—
जानने को जाने किस जीवन की महिमा !

× × ×

वह तब था जब तुझे किया था मैंने प्यार—
ओ सुकुमार— सौरभ स्निग्ध—ओ सुकुमार !
तुझी को तो था वह उपहार !

तेरे प्रति निज प्रेम-भाव को, धारण कर मस्तक पर मैं,
जाने कबसे खड़ा हुआ था आँखें आँसू से भर मैं !

प्रेम-फूल की रक्षा-हित भय का वैभव भी दे डाला—
आहुति निज जीवन की देकर उसके सौरभ को पाला !

झुलसा खड़ा रहा मैं लेकर एक फूल की ही माला—
तेरे आँचल में टपका दी मैंने निज जीवन-ज्वाला ;

वह तब था जब तुझे किया था मैंने प्यार—
ओ सुकुमार—सौरभ स्निग्ध—ओ सुकुमार !

(२)

जाने किस दूर वन-प्रान्तर से उड़कर
आया एक धूलि-कण ।

ग्रीष्म ने तपाया उसे,
शीत ने सताया उसे,
भव ने उपेक्षा के समुद्र में डुबाया उसे,
पर उसमें थी कुछ ऐसी एक धीरता—
जीवन-समर में थी ऐसी कुछ वीरता,
जग सारा हार गया,
डाल हथियार गया,
अपने कलंक की ही कालिमा के बिन्दु में
डूबा वह, था कि आत्म-ताड़ना के सिन्धु में !
और वह धूलि-कण

द्रौपदी के पट-जैसा
वारिधि के तट-जैसा
वामन की माँग-सा अनन्त
भूख की पुकार-सा दुरन्त
बढ़ता चला गया—
व्योम-भर छा गया—

शून्यता भी पूर्त्ति से छलक गई—
तिमिर में दामिनी दमक गई—
धूलि-कण में विभूति-किरण चमक गई !

रेणु थी जो धूलि थी—
आज वह हो गई

• शिरसावतंस इस धूल-भरे जग की
—वही जो कभी थी—जो है—रेणु तेरे पग की !

× × ×

यह अब है—जब मैंने पाया तेरा प्यार !
ओ सुकुमार—सौरभ-स्निग्ध – ओ सुकुमार !
यह गौरव है तेरा ही उपहार !

बिन पाए क्या था मैं, पर अब
क्या न हुआ पा तेरा प्यार !
धूलि स्वयं, पर आज मुझे है
तुच्छ धूलि से भी संसार !

ओ सुकुमार - सौरभ स्निग्ध—ओ सुकुमार !
ऐसा अब जब मैंने पाया तेरा प्यार !

१५.

इस कोलाहल-भरे जगत् में भी एक कोना है जहाँ प्रशान्त नीरवता है ।
इस कलुष-भरे जगत् में भी एक जगह एक धूल की मुट्ठी है जो मन्दिर है ।

मेरे इस आस्थाहीन नास्तिक हृदय में भी एक स्रोत है जिससे भक्ति ही उमड़ा करती है ।

जब मैं तुम्हें 'प्रियतम' कहकर सम्बोधन करता हूँ तब मैं जानता हूँ कि मेरे भी धर्म है ।

१६.

प्रियतमे ! उस एक वाक्य को दुहराओ – दस बार, हज़ार बार दुहराओ ! तुम चुप क्यों हो ?

भय, चिन्ता, व्रीड़ा ? तुम सोचती हो कि मैं तुम्हारी कहानी पहले सुन चुका हूँ, कि तुम मुझे वह एक वाक्य कई बार कह चुकी हो, इससे उसकी नूतनता नष्ट हो गई है ?

यदि ऐसा है, तो कहो, तुम्हारी कौन-सी बात है, तुम्हारे जीवन का कौन-सा अंग, जिसे मैं पहले से नहीं जानता ! क्या मैं और तुम, वक्ष से वक्ष और आँखों से आँखें मिलाए ही, कई युगों के महासागर को पार करके नहीं आए ? क्या मैं और तुम सृष्टि के उद्भव के समय से ही ऐसे अभिन्न नहीं थे, और क्या हमारा वह संयोग भावी अनन्त के उर को चीरता हुआ नहीं चला गया है ? तब हमारा कौन-सा ऐसा अंश है जो दूसरे के अन्तरतम से अभिन्न परिचित होकर उसकी रहःशीलता के पीछे छिपी व्यक्तता को नहीं पहचानता ! इससे क्या हमारा जीवन नष्ट हो गया है ?

प्रियतमे ! उस एक वाक्य को मैं तुमसे असंख्य बार सुन चुका हूँ। तुम्हारी कहानी मेरी कहानी से भिन्न नहीं है, फिर भी मैं उसे असंख्य बार पढ़ चुका हूँ !

तुम्हारे उस वाक्य के शब्दों के कम्पन में एक स्निग्ध स्पर्श की छाया है। तुम्हार आँखों में एक परिव्याप्त, मृदुल, ज्योत्स्नापूर्ण तरलता है। तुम चुप क्यों हो ?

ऊषा नित्य ही आकर आकाश में अपने केश बिखेरती है। नित्य ही हम तरुण

अरुण की धूप में बैठकर एक कृतज्ञतापूर्ण सुख से परिप्लुत हो जाते हैं। नित्य ही प्रातःसमीर आकर अलसाए हुए स्वर में कुछ कह जाता है। तुम ऊषा की बिछलने से, अरुण की आभा से, और प्रातःसमीर के सौरभ से भरे हुए उस एक वाक्य को दुहरा-भर दो, और उसे दुहराते समय किसी नूतनता से नहीं, उसी चिर-अभ्यस्त और परिचित स्नेह-कम्पन से और परिव्याप्त ज्योत्स्ना से दीप्त हो उठो।

प्रियतमे! तुम उस एक वाक्य को दुहराओ—दस बार, सौ बार, हज़ार बार दुहराओ! तुम चुप क्यों हो?

१७.

प्राण, तुम आज चिन्तित क्यों हो?

चिन्ता हम पुरुषों का अधिकार है। तुम केवल आनन्द से दीप्त रहने को, सब ओर अपनी कान्ति की आभा फैलाने को हो।

फूल डाल पर फूलता मात्र है, उसका जीवन-रस किस प्रकार भूमि से खींचा जायगा, किस-किसकी मध्यस्थता से उस तक पहुँचेगा, इसकी वह चिन्ता नहीं करता है।

वह केवल फूलता है, अपने सौन्दर्य और सुवास से जगत् को मोहित करता है, उसका जीवन सफल करता है, और झर जाता है।

प्राण, तुम आज चिन्तित क्यों हो?

१८.

तुम्हारा जो प्रेम अनन्त है, जिसे प्रस्फुटन के लिए असीम अवकाश चाहिए, उसे मैं इस छोटी-सी मेखला में बाँध देना चाहता हूँ!

तुम मेरे जीवन-वृक्ष की फूल मात्र नहीं हो, मेरी सम-सुख-दुःखिनी, मेरी संगिनी, मेरे अनन्त जन्मों की प्राणभार्य्या हो ।

तुम्हें मेरे सुख में सुखी होने-भर का अधिकार नहीं, तुम मेरे गान की लय हो, मेरे दुःख का क्रन्दन, मेरी वेदना की तड़प, मेरे उत्थान की दीप्ति, मेरी अवनति की कालिमा, मेरे उद्भव का आलोक और मेरी मृत्यु की अखण्ड नीरव शान्ति भी तुम्हीं हो !

प्राण, यदि मैं तुम्हें बाँधना चाहूँ तो तुम वे बन्धन काट डालो !

१९.

संसार का एकत्व एक सामान्य निर्बलता का बन्धन है, उसका प्रत्येक अंग अपनी निर्बलता को छिपाने के लिए मिथ्या सामर्थ्य का अभिनय करता है । इसीलिए संसार के सामान्य प्राणी अपनी शक्तियों को ही दूसरों से बटाते हैं ; शक्तियों के ही साझीदार होते हैं ।

किन्तु मेरा और तुम्हारा एकत्व हमारी निर्बलताओं से नहीं, हमारी समान सामर्थ्य और शक्ति से गूँथा गया है। इसलिए आओ, हम तुम अपनी-अपनी निर्बलताओं के साझीदार होवें, अपने अन्तर के घोरतम रहस्यमय संभ्रम और परिकम्पन को एक दूसरे से कह डालें !

२०.

कैसे कहूँ कि तेरे पास आते समय मेरी काया अमलिन, सम्पूर्ण और पवित्र है, या कि मेरी आत्मा अनाहत, अविच्छिन्न है ?

क्योंकि तुझ तक पहुँचने में, तेरी खोज में बिताए हुए अपने भूखे जीवन में

क्या मुझे भयंकर अन्धकार, गँदली कीच और कटीली झाड़ियों में से उलझते हुए नहीं आना पड़ा ?

अमालिन्य, सम्पूर्णता और पवित्रता का आदर मैंने किया है—उनकी अप्राप्ति में। उन्हें प्राप्त करना और सुरक्षित रखना मुझे तुमसे ही सीखना है।

किन्तु तेरे समीप आते हुए मेरे पास एक वस्तु अवश्य है— मेरी काया अब भी अनुभूति-सामर्थ्य रखती है और मेरी आत्मा अब भी स्वच्छन्द और अबद्ध है !

२१.

हमारा तुम्हारा प्रणय इस जीवन की सीमाओं से बँधा नहीं है।

इस जीवन को मैं पहले धारण कर चुका हूँ।

पढ़ते-पढ़ते, बैठे-बैठे, सोते हुए एकाएक जागकर, जब भी तुम्हारी कल्पना करता हूँ, मेरे अन्दर कहीं बहुत-से बन्ध टूट जाते हैं एक निर्बाध प्रवाह मुझे कहीं बहा ले जाता है, मेरे आसपास का प्रदेश, व्यक्ति, सब कुछ बदल जाता है ; मैं स्वयं भिन्न रूप धारण कर लेता हूँ। पर ऐसा होते हुए भी जान पड़ता है, मैं अपना ही कोई पूर्वरूप, कोई घनीभूत रूप हूँ। और तुम, उस पूर्व जन्म में भी मेरे जीवन-वृत्त का केन्द्र होती हो !

चिरप्रेयसि ! पुनर्जन्म असम्भव है। और सम्भव भी हो, तो यह स्मृति कैसी ?

किन्तु इस तर्क से मेरी अन्तर्दृष्टि पर मोह का आवरण नहीं पड़ता। मैं फिर भी अपने पूर्व जन्म का दृश्य स्पष्ट देख पाता हूँ।

मैं देखता हूँ, तुम मेरी अनन्त-प्रणयिनी हो। इतना ही नहीं, मैं इससे भी आगे देख सकता हूँ। प्रत्येक जीवन में तुम आती हो, एक अप्राप्य निधि की तरह मेरी आँखों के आगे नाच जाती हो, और फिर लुप्त हो जाती हो। मैं कभी तुम्हें पहुँच नहीं पाता।

मैं जन्म-जन्मान्तर की अपूर्ण तृष्णा हूँ, तुम उसकी असम्भव पूर्ति। इस तृष्णा और तृप्ति का कहाँ मिलन होगा, कहाँ एक दूसरे में समाहित हो जायगी, यह मैं नहीं जानता, न जानने की इच्छा ही करता हूँ। इस तृष्णा में ही इतना घना जीवन भरा पड़ा है कि मुझे और किसी चाह के लिए स्थान नहीं रहता!

केवल कभी-कभी यह सम्भावना मन में कौंध जाती है कि यह एकीकरण कभी नहीं होगा।

२२.

तुम गूजरी हो, मैं तुम्हारे हाथ की वंशी।

तुम्हारे श्वास की एक कम्पन से मैं अनिर्वचनीय माधुर्य्य भरे संगीत में ध्वनित हो उठता हूँ।

ये गाएँ हमारे असंख्य जीवनों के असंख्य प्रणयों की स्मृतियाँ हैं।

वंशी की ध्वनि सुनते ही ये मानो किसी भूले हुए संगीत की झंकार सुनकर चौंक उठती हैं।

तुम और मैं मिलकर इस छोटे-से संसार के स्वामी हैं। तुम्हारी प्रेरणा से मैं ध्वनित हो उठता हूँ, और उस ध्वनि की प्रेरणा से हमारी चिरन्तन प्रणयकामनाएँ पूरीकरण में लीन हो जाती हैं।

यही हमारे प्रेम का छोटा-सा किन्तु सर्वत. सम्पूर्ण दरबार है।

२३.

इतने काल से मैं जीवन की उस मधुर पूर्ति की खोज करता रहा हूँ—जीवन का सौन्दर्य, कविता, प्रेम...और अब मैंने उसे पा लिया है।

वह एक मृदुल, मधुर, स्निग्ध शीतलता की तरह मुझमें व्याप्त हो गई है।

किन्तु इस व्यापक शान्तिपूर्ण एकरूपता में मुझे उस वस्तु की कमी का अनुभव हो रहा है जिसने मेरी खोज को दिव्य बना दिया था—एक ही वस्तु—अप्राप्ति की पीड़ा।

२४.

प्रिये तनिक बाहर तो आओ तुम्हें सान्ध्य-तारा दिखलाऊँ!
रुद्ध प्रतीची के दीवट पर करुण प्रणय का दीप जला है—
लिए अलक्षित अनुनय-अंजलि किसे मनाने आज चला है?
प्रिये इधर तो देखो तुमसे इसका उत्तर पाऊँ!
तुम्हें सान्ध्य-तारा दिखलाऊँ!

अरुण सकल आकाश किन्तु उसमें है तारा दीप्त अकेला।
अनभिज्ञ मेरी भी मनुहार, यद्यपि तुम मूर्तिमती अवहेला!
अपलक-नयन इसी विस्मय में कैसे तुम्हें मनाऊँ!
तुम्हें सान्ध्य-तारा दिखलाऊँ!

नभ का रोष बुझाकर तत्क्षण डूब जायगा सन्ध्या-तारा।
जाते पर अपने प्रतिबिम्बों से भर जायेगा नभ सारा!
ऐसी क्रिया प्रणय अपने में भी क्या तुम्हें बताऊँ?
तुम्हें सान्ध्य-तारा दिखलाऊँ!

तुम अनुकूलो तो मैं तत्क्षण चरणों में से शीश हटाऊँ—
सम्मुख होकर अगणित गीतों की मालाएँ तुम्हें पिन्हाऊँ!
तुम्हें सान्ध्य-तारा दिखलाऊँ!

२५.

प्राणवधूटी !
अन्तर की दुर्जयता तुमने लूटी !
गौरव-दप्त दुराशाएँ,
अभिमानिनी हुताशाएँ,
स्वीकृति-भर से ही कर डालीं झूटी !
प्राणवधूटी !

दान-शीलता खो डाली—
दम्भ-मलिनता धो डाली !
अहंमन्यता की छाया भी छूटी !
प्राणवधूटी !

दीन-नयन की याच्ञा से
उर की अपलक वाञ्छा से
मण्डित मेरी कुटिया टूटी-फुटी !
प्राणवधूटी !

कम्पन ही से रुका हुआ,
जीवन पैरों झुका हुआ —
हाय तुम्हारी मुद्रा अब क्यों रूठी !
प्राणवधूटी !

अवगुण्ठन को डालो चीर—
प्रकटित कर दो उर की पीर—
लज्जा के बिखरे फूलों पर,
आज बहा दो आँसू नीर—
बस भिक्षा दे डालो आज अनूठी !
प्राणवधूटी !

२६.

विद्युद्गति में सुप्त विकलता खोई-सी बहती है,
घन की तड़पन में पुकार-सी कुछ उलझी रहती है;

उस प्रवाह से एक कली ही चुन तो लो !

देवी सुन तो लो, यह पावस-रजनी क्या कहती है—

क्षणभर रुककर सुन तो लो !

"आंखों में—धूमिल व्यथा-ज्वाल,
प्राणों में सोते अतल ताल !
सूना पर जीवन-मरु विशाल—

देवी बरसा दो दृष्टि-धार !

"चकवी को सहचर की पुकार—
बहती नौका को कर्णधार ।
प्रणयी-जीवन की पूर्ति कौन ?

—कुवलय-नयनों का अश्रुभार !

"शैशव को ऊषा का दुलार
बालक को दिनमणि-किरणहार
इस यौवन का क्या पुरस्कार ?

—पावस-निशि का अभिसार-प्यार !"

उसकी एक कली ही चुन तो लो !

घन-पट पर तड़पन की रेखा चित्र बना जाती है—
देवी ! चपला फिर-फिर तुमको कुछ कहने आती है !

क्षणभर रुककर सुन तो लो !

२७.

आओ, एक खेल खेलें !
मैं आदिम पुरुष बनूँगा,
तुम पहली मानव-वधुका ।
पहला पातक अपना ही
हो परिणय, यौवन-मधु का !

पथ-विमुख करे वह, जग की
कुत्सा का पात्र बनावे ;
दृढ़ नाग-पाश में बाँधे
पाताल-लोक ले जावे !
निज जीवन का सुख ले लें !

मत मिथ्या व्रीड़ा से तुम
नत करो दीप्त मुख अपना—
मिथ्या भय की कम्पन में
मत उलझाओ सुख-सपना !

इस सुमन कुञ्ज से अपना
प्रभु बहिष्कार कर देंगे ?
उनके आज्ञापन की हम
मुँहजोही हो न करेंगे !
हम उत्पीड़न क्यों झेलें ?

हम उनके सही खिलौने—
क्यों अपना खेल भुलावें ?
कन्दरा किसी में अपनी
हम क्रीड़ास्थली बनावें !

लज्जा, कुत्सा, पातक की
पनपे वह अभिनव खेला
परिणय की छाया में हूँ
मैं तेरे साथ अकेला !
आदिम प्रेमाञ्जलि दे लें !
आओ एक खेल खेलें !

२८.

वधुके, उठो !

रात्रि के अवसान की घनघोर तमिस्रता में, अनागता ऊषा की प्रतीक्षा का अवसादपूर्ण थकान में हम जाग रहे हैं, मैं और तुम !

हमारे प्रणय की रात—हमारे प्रणय की उत्तप्त वासना-ज्वाला में डूबी हुई रात—समाप्त हो चुकी है, और दिन नहीं हुआ ।

हमें अभी दिन-लाभ नहीं हुआ । फिर भी उठो, उठकर सामने देखो, और यात्रा के लिए प्रस्तुत हो जाओ !

क्योंकि हमारे पास उस आग्नेय रात्रि के स्मारक इन चिह्नों को, अपने मगज-वस्त्रों पर पड़े हुए इन धब्बों को, देखकर खिन्न होने का समय कहाँ है ?—और प्रयोजन क्या ?

वधुके, वह काम पीछे आनेवालों पर छोड़ो, हमें तो आगामी रात तक की लम्बी यात्रा करनी है !

वधुके, उठो !

हमारी जलाई आग जल-जलकर रात ही में कहीं बुझ गई है, और हम और अन्धकार के आवरण में उलझे हुए पड़े हैं—तुम और मैं !

किन्तु यह मत भूलो कि ऊषा अभी नहीं आई है ; कि आरक्त प्रभातकालीन अंशुमाली ने अभी तक वेदना के विस्तार को भस्म नहीं कर डाला।

बधुके, उठो और सामने के विस्तीर्ण नीलिम आकाश में आँखें खोलो। हम तुम क्यों प्रत्यूष के तारे के साथ रोवें ?

२९.

सुमुखि मुझको शक्ति दे
वरदान तेरा सह सकूँ मैं!
घोर घन की गूँज-सा
आयास जग पर छा रहा है,
दामिनी की तड़प-सा
उल्लास लुटता जा रहा है—
ऊपरी इन हलचलों की
आड़ में आकाश अविचल।
दे मुझे सामर्थ्य ध्रुव-सा
चिर-अचञ्चल रह सकूँ मैं!
शोर से पागल जगत् में
घुमड़ती हैं वेदनाएँ—
घोंटती है नियति मुट्ठी
वे न बाहर फूट आएँ—
बन्धनों के विश्व में, हे
बन्ध-मुक्ते ! हे विशाले!
दे मुझे उन्माद इतना
मुग्ध सरि-सा बह सकूँ मैं!

रो रहे हैं लोग जग की
चोट को हम सह न पाते –
'मौत चारों ओर है' सब
ओर स्वर हैं बिलबिलाते।
तू, जिसे भव की कठिनतम
चोट ने कोमल बनाया –
शक्ति दे, उर धार तुझको
घात सारे सह सकूँ मैं!

रात सारी रात रोकर
ओस-कण दो छोड़ जाती,
साँझ तम में जीर्ण अपना
प्राण-धागा तोड़ जाती,
मौन, असफल मौन हो
फल-सा हुआ है प्राप्त जग को--
मुखर-रूपिणि! दान दे यह
प्यार अपना कह सकूँ मैं!

गहन जग-जंजाल में भी
राह अपने हित निकालूँ,
उलझ काँटों में पुरानी
जीर्ण केंचुल फाड़ डालूँ—
कूल-हीन असीम के उस
पार तक फैला भुजाएँ—
अडिग प्रत्यय से उमड़कर
हाथ तेरा गह सकूँ मैं!

सुमुखि, मुझको शक्ति दे
वरदान तेरा सह सकूँ मैं!

३०.

जिह्वा ही पर नाम रहे तो
कोई उसकी टेर लगा ले,
शब्दों ही में बँधे प्यार तो
उसे लेखनी भी कह डाले ;

आँखों में यदि हृदय बसा हो
करे तूलिका उसका चित्रण—
वह क्या करे कि जिसकी रग-रग
में हो आत्मदान का स्पन्दन ?

मेरे कण-कण पर अंकित है प्रेयसि ! तेरी अनमिट छाप—
तेरा तो वरदान बन गया मुझे मूकता का अभिशाप !

३१.

यह सब कितने नीरस जीवन के लक्षण हैं ? मेरे लिए जीवन के प्रति ऐसा सामान्य उपेक्षा-भाव असम्भव है ।

सहस्रों वर्ष की ऐतिहासिक परम्परा, लाखों वर्ष की जातीय वसीयत, इसके विरुद्ध है । मेरी नस-नस में उस सनातन जीवन की तीव्रता नाच रही है, उसे लेकर मैं अपने को एक सामान्य आनन्द में क्योंकर भुला दूँ ?

मेरी तनी हुई शिराएँ इससे कहीं अधिक मादक अनुभूति की इच्छुक हैं, मेरी चेतना को इससे कहीं अधिक अशान्तिमय उपद्रव की आवश्यकता है । बुद्धि कहती है कि जीवन से उतना ही माँगना चाहिए जितना देने की उसमें सामर्थ्य हो । बुद्धि को कहने दो । मेरा विद्रोही मन इस क्षुद्र विचार को ठुकरा देता है—'नहीं, यह पर्य्याप्त नहीं है···इससे अधिक—कहीं अधिक···राव ··!'

इस अविवेकी, तेजोमय, भावात्मक भूख की प्रेरणा के आगे मेरी शक्ति क्या है? मैं उसकी प्रलयंकारी आँधी में तृणवत् उड़ जाता हूँ।

(२)

मेरे मित्र, मेरे सखा, मेरे एक मात्र विपद्बन्धु - आत्माभिमान! देखो, मैंने अपने अन्तर की नारकीय वेदना छिपा दी है, मेरे मुख पर हँसी की अम्लान रेखा स्थिर भाव से खिंची है। जब तक रात्रि के एकान्त में मैं अपनी शय्या पर पड़कर अपना मुँह नहीं छिपा लूँगा, तब तक मेरे वदन पर शान्तिमय आनन्द के अतिरिक्त कोई भाव नहीं आ पायेगा। तुम्हारा धीमा किन्तु दृढ़ स्वर मेरे साहस को बढ़ाता हुआ कहता रहेगा—'अभी नहीं, अभी नहीं···'

उसके बाद?

मरुभूमि में जब आँधी आती है, तब पशु अपना सिर रेत में छिपा लेते हैं। उत्तप्त रेत उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचा पाती। मेरी शय्या के उस निविड़ एकान्त में कितनी ही आँधियाँ आकर चली जायँ, मेरी यह आत्मा उसी प्रकार अनाहत, अक्षत रह जायगी।

भीगे हुए वस्त्र, या भर्राई हुई आवाज़ क्या हैं? ये भी सामान्य जीवन की घटनाएँ हैं। इनमें मेरा आहत अभिमान नहीं दीख पड़ेगा।

३२

इस विचित्र खेल का अन्त क्या, कहाँ, कब होगा?

विवेक कहता है, प्रत्येक घटना, जिसका कहीं आरम्भ होता है, कहीं-न-कहीं समाप्त होती है। तो फिर यह प्रणय, जिसका उद्भव एक मधुर स्वप्न में हुआ था, कहाँ तक चला जायगा?

इसके दो ही अन्त हो सकते हैं—मिलन या विच्छेद।

तो यहाँ कौन-सा होगा ?

मिलन ? तो फिर क्यों यह घोर यातना, यह अविश्वास, यह अनिश्चय, यह ईर्ष्या, यह वञ्चना की अनुभूति ?

विच्छेद ? तो फिर क्यों यह बढ़ती जानेवाली अशान्ति, यह विक्षोभ, यह उत्कट कामना, यह पागलपन ?

(२)

आकाश में एक क्षुद्र पक्षी अपनी अपेक्षा अधिक वेगवान् पक्षी का पीछा करता जा रहा है।

क्षुद्र पक्षी ! तू अपने नीड़ से दूर और दूरतर होता जा रहा है, अपने विभव को खोकर उसका पीछा कर रहा है।

किन्तु वह तेजोराशि, वह ज्योतिर्माला, तुझसे आगे, तुझसे अधिक गति से उड़ी जा रही है। अनवरत चेष्टा से उसकी ओर बढ़ते रहने पर भी उसमें और तुझमें अन्तर बढ़ता जा रहा है .

(३)

अन्त ? कब, कहाँ, किसका अन्त ?

दोनों ही असम्भव···

इस बढ़ते हुए अन्तरावकाश के कारण किसी दिन वह तेजोराशि अदृश्य हो जायगी—और तू, क्षुद्र पक्षी, तू शून्य में भटकता रह जायगा—शायद खो जायगा ..

पागल, तेरा खेल समाप्त नहीं होगा !

२३.

तुम्हीं हो क्या वह—
प्रोज्ज्वल रेखाओं में चित्रित ज्वाला एक अँधेरी -
पीड़ा की छाया हो मानो आशाओं ने घेरी ?
सारस-गति से चली जा रहीं
मौन रात्रि में, नीरव गति से, दीपों की माला के आगे !
क्षणभर बुझे दीप, फिर मानो पागल-से हो जागे !
मानो पलभर सुध बिसराकर
पुलक-विकल हो तिमिर-शिखा पर अपना सब आलोक लुटाकर
होकर निर्व्रत,
चेत उठे हों,
नव जीवन में—पर जीवन भी कैसा ? व्यथा एक हो विस्तृत—
विकल वेदना एक प्रकम्पित !

(२)

मन मुझको कहता है—
मैं हूँ दीपक यह तेरे हाथों का
मुझे आड़ तेरे हाथों की, छू पावे क्यों झोंका !

राजा हूँ, ऊँचा हूँ—मुझ-सा नहीं दूसरा कोई ;
फिर भी कभी न हो पाता हूँ साथ तुम्हारे मैं एकाकी—
सब विभूति जाती है खोई !

करों तुम्हारे हूँ, फिर भी हूँ एक भीड़ में !

मेरा फीका-सा आलोक
डरते-डरते व्यक्त कर रहा तेरी मुख-छवि ;
पर हा, कितना छोटा है मेरा आलोक !

दूसरों का है भाग्य—
सभी मिल दीपमालिका में साकार!
नील-अम्बरा तिमिर-शिखा को देते ज्वाला से आकार!

(३)

मैं हूँ खड़ा देखता वह जो सारस-गति से चली जा रही,
मौन रात्रि में, नीरव गति से दीपों की माला के आगे।
क्षणभर बुझे दीप, फिर मानो पागल-से हो जागे!

३४.

तोड़ दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान!

तुम हँसो, कह दो कि अब उत्संग वर्जित है—
छोड़ दूँ कैसे भला मैं जो अभीप्सित है?
कोषवत्, सिमटी रहे यह चाहती नारी—
खोल देने, लूटने का पुरुष अधिकारी!

ओस चाहे, वह रहे, रवि-ताप ही चुक जाय,
फूल चाहे लख उसे झंझा स्तिमित रुक जाय!
कूल की सिकता कहे बढ़ती लहर थम जाय,
पुरुष स्त्री की तर्जनी से पिघलकर नम जाय!

शक्ति का सहवास खोकर पुरुष मिट्टी है—
पूछता है पुरुष पर, वह शक्ति किसकी है?
शक्ति के बिन व्यर्थ मेरा हठ जीवन-यान—
क्यों न उसको बाँधने में तब लगूँ तन-प्राण?

बद्ध है मम कामना में क्षणिक तेरा हास,
मेघ-उर में ही बुझेगा दामिनी का लास !
दूर रहने को हृदय में ठानती क्या हो ?
तुम पुरुष की वासना को जानती क्या हो !

मत हँसो, नारी, मुझे अपना वशीकृत जान—
तोड़ दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान !

३५.

तितली, तितली ! इस फूल से उस पर, उससे फिर तीसरे पर, फिर और आगे, रंगों की शोभा लूटती, मधुपान करती, उन्मत्त, उद्भ्रान्त तितली !

मेरे इस सम्बोधन में उपालम्भ की जलन नहीं है । तितली ! तुम्हारा जीवन चञ्चल, अस्थिर, परिवर्तन से भरा है, तुम दो पल भी एक पुष्प पर नहीं टिक सकतीं, तुम्हारी रसना एक ही रस के पान से तृप्त नहीं होती, एकव्रत तुम्हारे लिए असम्भव है . किन्तु यह कहकर मैं प्रवञ्चना का उलाहना नहीं देना चाहता···

तुमने यदि अपना जीवन संसार के असंख्य फूलों को समर्पित कर दिया है, तो मैं क्यों ईर्ष्या करूँ ? मैंने तुम्हें गन्ध नहीं दी, तुम्हारे लिए मधु नहीं सञ्चित किया । किन्तु तुममें गन्ध का सौरभ लेने की, मधु का स्वादन करने की, फूल-फूल पर उड़ने की, जो शक्ति है, वह तो मैंने ही दी है ! तुम्हारा यह अनिर्वचनीय सौन्दर्य, तुम्हारे पंखों पर के ये अकथ्य सौन्दर्यमय रंग—ये मेरे ही उपहार हैं । फिर मैं तुम्हारी प्रवृत्ति से ईर्ष्या क्यों करूँ ?

मैं मानो तुम्हारे जीवन का सूर्य हूँ, तुम सर्वत्र उड़ती हो, किन्तु तुम्हारी शक्ति

का उत्स, तुम्हारे प्राणों का आधार, मैं ही हूँ—मेरी ही धूप में तुम इठलाती फिरती हो—मैं इसी को प्रतिदान समझता हूँ कि मेरे कारण तुममें इतना सौन्दर्य और इतना मधुर आनन्द प्रकट हो सकता है।

तितली, तितली !

३६.

जब तुम हँसती हो, तब मेरे लिए अत्यन्त जघन्य हो जाती हो। तब तुम मेरी समवर्त्तिनी नहीं, किन्तु एक तुच्छ वस्तु रह जाती हो—एक ओछा, खोखला खिलौना, एक सुन्दर, सुरूप, पर निःसत्त्व क्षार-पुञ्ज मात्र !

जब तुम उद्विग्न, दु.खी, तिरस्कृत और दयनीय होती हो, तभी मैं तुम्हें अत्यन्त प्रियतमा देख पाता हूँ। तभी तुम पर मेरा अत्यन्त ममत्व होता है।

सम्भवतः यह प्रेम नहीं है – सम्भवतः यह केवल एक सामर्थ्यपूर्ण दयाभाव मात्र है। पर यही भाव है जो कि तुम्हें मुझसे सम्मिलित किये हुए है...

३७.

जान लिया तब प्रेम रहा क्या
नीरस प्राणहीन आलिंगन
अर्थहीन ममता की बातें --
अनमिट एक जुगुप्सा का क्षण।

किन्तु प्रेम के आवाहन की
जब तक ओठों में सत्ता है
मिलन हमारा नरक-द्वार पर
होवे तो भी चिन्ता क्या है ?

२८.

जब मैं तुमसे विलग होता हूँ, तभी मुझे अपने अस्तित्व का ज्ञान होता है ।

जब तुम मेरे आगे उपस्थित नहीं होतीं, तभी मैं तुम्हारे प्रति अपने प्रेम का परिमाण जान पाता हूँ ।

जब तुम दुःखित होती हो, तभी मुझे यह अनुभव होता है कि तुम्हें प्रसन्न रखना मेरे जीवन का कितना गौरवपूर्ण उद्देश्य है ।

जब मैं तुम्हारे प्यार से वञ्चित होता हूँ, तभी यह संज्ञा जाग्रत होती है कि मेरे हृदय पर तुम्हारा आधिपत्य कितना आत्यन्तिक है ।

क्योंकि तुम्हें पा लेने पर तो मैं रहता ही नहीं ।

मैं उस पक्षी की तरह हूँ जो यह जानने के लिए, कि उसका नीड़ कितना सुरक्षित है, बार-बार उससे उड़ जाता है और दूर से उसका ध्यान किया करता है ।

२९.

मैंने अपने आपको सम्पूर्णतः तुम्हें दे दिया है । पर तुम और मैं अत्यन्त एकत्व नहीं प्राप्त कर सके ।

हम मानों एक अगाध समुद्र में उतरे हुए दो गोताखोर हैं। संसार की दृष्टि में हमारा स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है—क्योंकि संसार हमें नहीं देखता, वह देखता है केवल उस प्रशान्त समुद्र की असीम बिछलन को, जिसकी सीमाहीनता ही उसकी एकता है।

पर हम-तुम—हम-तुम एक दूसरे को देख सकते हैं और देखते हुए अपना अलगाव जानते हैं। संसार की दृष्टि से बहुत परे आकर हम एक-दूसरे से अलग हो गये हैं—और जो जल हमें संसार की दृष्टि में एक करता है वही हमारे मध्य में है और हमारे विभेद का आधार हो रहा है।

मैंने अपने आपको सम्पूर्णतः तुम्हें दे दिया है, पर तुम और मैं अत्यन्त एकत्व नहीं प्राप्त कर सके।

४०.

हा वह शून्य! हाय वह चुम्बन!
किससे किसका था वह प्रणय-मिलन-
किया था किसका मैंने चुम्बन?
तेरा या तेरे कपोल का
या उसपर आँसू अमोल का
या जो उस आँसू के पीछे छिपी हुई थी विरह-जलन?
किया था किसका मैंने चुम्बन?
या कि—आज सच ही सच कह दूँ,
अपना संशय सम्मुख रख दूँ!—
तेरे मृदु कपोल पर ढलके
विरह-जलन के आँसू छलके—

तेरी विरह-जलन के पीछे सोई थी जो मेरी छाया,
आड़ उसी की लेकर मैंने अपना-आप भुलाया ?
अपने से अपना था प्रणय-मिलन—
किया था किसका मैंने चुम्बन ?
हा वह शून्य ! हाय वह चुम्बन !

४१.

तुम, जो सूर्य को जीवन देती हो, किन्तु उसकी किरणों की आभा हर लेती हो, तुम कौन हो ?

तुम्हारे बिना जीवन निरर्थक है ; तुम्हारेबिना आनन्द का अस्तित्व नहीं है । किन्तु तुम्हीं हो जो प्रत्येक घटना में, प्रत्येक दिवस और क्षण में पीड़ा का सूत्र बुन देती हो ; तुम्हीं हो जो कि कृतित्व का गौरव नष्ट कर देती हो ; तुम्हीं हो जो कि भव की पहेली का अर्थ समझकर हमें उससे वञ्चित कर रखती हो !

४२.

तुम देवी हो नहीं, न मैं ही देवी का आराधक हूँ,
तुम हो केवल तुम, मैं भी बस एक अकिंचन साधक हूँ ।
धरती पर निरीह गति से हम पथ अपना हैं नाप रहे—
आगे खड़ा काल कहता है, मैं विधि, मैं ही बाधक हूँ !

विश्व हमारा दिन-दिन घिरकर सँकरा होता आता है,
प्राणों का आहत पंछी दो पैंग नहीं उड़ पाता है।
किन्तु कभी बन्धन की कुण्ठा घेर सकी नभ का विस्तार?
उसका विशद मुक्ति-आवाहन तीखा होता जाता है!

लड़ना ही मेरा गौरव, मैं रण में विजयासक्त नहीं,
अपने को देने आया मैं वर का भूखा भक्त नहीं।
नहीं पसीजो, अवहेला में भी पनपेगा मेरा प्यार—
क्या घुट-घुट मरनेवालों के उर होते आरक्त नहीं?

क्षण आते हैं, जाते हैं, जीवन-गति चलती जाती है—
ओठ अनमने रहें, काल की मदिरा ढलती जाती है।
घूम घुमड़ता है, फिर भी तम-पट फटता ही जाता है—
स्नेह बिना भी इस प्रदीप की बाती जलती जाती है!

४३.

तुममें यह क्या है जिसे मैं डरता हूँ और घृणा करता हूँ? यह संहत छाया क्या है जिसको भेदकर मेरी दृष्टि पार तक नहीं देख सकती?

क्या यह केवल तुम्हारे गत जीवन की ही छाया है, केवल तुम्हारे जीवन का एक अङ्ग जिस पर मेरे जीवन की छाप नहीं पड़ी—एक अङ्ग जिस पर दूसरों का अधिकार रहा है और जिसमें तुमने दूसरों का प्यार पाया है? क्या यह तुम्हारी स्वतन्त्र और विशिष्ट आत्मा के प्रति ईर्ष्या है, केवल ईर्ष्या?

किन्तु मैं तुम्हारे उस गत जीवन और नष्ट प्रेम से क्यों ईर्ष्या करूँ जिसे तुमने मेरे जीवन और मेरे प्रणय के आगे ठुकरा दिया है?

मैं विजयी हूँ, मैंने तुम्हारे भूत, वर्तमान, भविष्य को जीत लिया है, तुम्हारी इस शरीर-रूपी दिव्य विभूति पर अधिकार कर लिया है, पर अभी तक इस तत्त्व को नहीं पा सका, नहीं समझ सका।

(२)

वह इतना नहीं, इससे कहीं अधिक है। तुममें कोई क्रूर और कठोर तत्त्व है -- तुम निर्दय लालसाओं की एक संहत राशि हो!

यही है जो कि एकाएक मानों मेरा गला पकड़ लेता है, मेरे मुख में प्यार के शब्दों को सूख कर देता है—यहाँ तक कि मैं तुमसे भी अपना मुख छिपाकर, अपने ओठों को तुम्हारे सुगन्धित केशों में दबाकर, अस्पष्ट स्वर में अपनी वासना की बात कहता हूँ—कह भी नहीं पाता, केवल अपने उत्तप्त श्वास की आग से अपना आशय तुम्हारे मस्तिष्क पर दाग देता हूँ।

यही जुगुप्सापूर्ण और रहस्यमयी बात है जिसके कारण मैं तुम्हारे प्रेम के निष्कलङ्क आलोक में भी डरता रहता हूँ...

४४.

मैं अब सत्य को छिपा नहीं सकता।

मैं चाहता हूँ, यह विश्वास कर सकूँ कि तुममें व्यथा का अनुभव करने की सामर्थ्य ही नहीं है; क्योंकि मेरा अपना हृदय टूट गया है, और मैं अधिक नहीं सह सकता।

मेरी इच्छा है कि तुम्हें क्रूर और अत्याचारी समझ सकूँ, क्योंकि मेरा उद्धार इसी विश्वास में है कि मैं तुम्हारी बलि हूँ।

हमने—मैंने और तुमने– जो भयङ्कर भूल की है, उससे बचने का इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है ।

(२)

यह छिपाये छिपता नहीं । मुझे सत्य कहना ही पड़ेगा, क्योंकि वह मेरे अन्तस्तल को भस्म करके भी अदम्य अग्निशिखा की भाँति प्रकट होगा ।

तुम्हारी दुःखित, अभिमान-भरी आँखों में मेरी आँखें वह तमिस्र संसार देख सकती हैं जो कि फूट निकलना चाहता है, किन्तु सकता नहीं ।

तुम्हारे फिरे हुए मुख पर भी मैं पीड़ा की रेखाएँ अनुभव कर सकता हूँ—वे रेखाएँ जो कि मेरे अपने दुःखों की चेतना पर अपना चिह्न बिठा जाती हैं ।

मैं भी क्रूर और अत्याचारी हूँ, मेरा हृदय भी वज्र की भाँति अनुभूतिहीन है । यही सत्य की नग्न वास्तविकता है !

(३)

मैं अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिए बलि हो जाना चाहता हूँ । तुम मेरे बलिदान का खोखलापन दिखाकर मेरी हत्या कर रही हो ।

हम दोनों एक दूसरे के आखेट हैं, और अनिवार्य, अटल मनोनियोग से एक दूसरे का पीछा कर रहे हैं ।

४५.

जीवन का मालिन्य आज मैं क्यों धो डालूँ ?
उर में सञ्चित कलुषानिधि को क्यों खो डालूँ ?
कहाँ, कौन है जिसको है मेरी भी कुछ परवाह–
जिसके उर में मेरी कृतियाँ जगा सकें उत्साह ?

विश्व-नगर की गलियों में खोए कुत्ते-सा
झंझा की प्रमत्त गति में उलझे पत्ते-सा

हटो, आज इस घृणापात्र को जाने भी दो टूट-
भव-बन्धन से साभिमान ही पा लेने दो छूट !

४६.

हम एक हैं। हमारा प्रथम मिलन बहुत पहले हो चुका—इतना पहले कि हम अनुमान भी नहीं लगा सकते। हम जन्म-जन्मान्तर के प्रणयी हैं।

फिर इतना वैषम्य क्यों ? क्या इतने कल्पों में भी हम एक दूसरे को नहीं समझ पाए ?

प्रेम में तो अनन्त सहानुभूति और प्रज्ञा होती है, वह तो क्षण भर में परस्पर भावों को समझ लेता है, फिर इतने चिरमिलन के बाद भी यह अलगाव का भाव क्यों ?

(२)

यह एक कल्पना है, किन्तु इस काल्पनिक सिद्धान्त की पुष्टि जीवन की अनेक घटनाएँ करती हैं।

विधाता ने प्रेम रज्जु में एक विचित्र गाँठ लगा रखी है—जो सदा अटकी रहती है। चिरकाल के प्रेमियों में भी एक स्वभाव-वैषम्य रहता है—जिसे दोनों समझकर भी दूर नहीं कर सकते। यही उनके प्रणय की दृढ़ता और उसकी कमज़ोरी है।

यह उन्हें जन्म-जन्मान्तर से एक दूसरे की ओर आकर्षित करता है, पर कैवल्य नहीं प्राप्त करने देता। जब वे एक दूसरे के अत्यन्त समीप आ जाते हैं, तब वह प्रकट होकर उन्हें फिर विलग कर देता है, और आकर्षण की क्रिया पुनः आरम्भ

हो जाती है। इसी प्रकार सान्निध्य और दूरत्व में, मिलन और विच्छेद में, जन्म के बाद जन्म, युग के बाद युग, कल्प के बाद कल्प बीत जाते हैं। और एक चिरन्तन, नित्य तृष्णा की तरह दोनों आत्माएँ एक दूसरे की चाह में छटपटाती रहती हैं, और प्रेम के ज्वालामय अमृत का, विषाक्त शान्ति का, पान करती रहती हैं···

परमाणु के केन्द्रक के आसपास इलेक्ट्रन की परिक्रमा से लेकर विश्वकर्मा की सर्वोत्कृष्ट कृति मानव-हृदय की क्रियाओं तक में यही तथ्य निहित है···

४७.

अपने प्रेम के उद्वेग में मैं जो कुछ भी तुमसे कहता हूँ, वह सब पहले कहा जा चुका है।

तुम्हारे प्रति मैं जो कुछ भी प्रणय-व्यवहार करता हूँ, वह सब भी पहले हो चुका है।

तुम्हारे और मेरे बीच में जो कुछ भी घटित होता है उससे एक तीक्ष्ण वेदना-भरी अनुभूति मात्र होती है — कि यह सब पुराना है, बीत चुका है, कि यह अभिनय तुम्हारे ही जीवन में मुझसे अन्य किसी पात्र के साथ हो चुका है!

यह प्रेम एकाएक कैसा खोखला और निरर्थक हो जाता है!

४८.

छलने! तुम्हारी मुद्रा खोटी है।

तुम मुझे यह झूठे सुवर्ण की मुद्रा देते हुए अपने मुख पर ऐसा दिव्य भाव स्थापित किये खड़ी हो! और मैं तुम्हारे हृदय में भरे असत्य को समझते हुए भी चुपचाप तुम्हारी दी हुई मुद्रा को स्वीकार कर लेता हूँ।

इसलिए नहीं कि तुम्हारी आकृति मुझे मोह में डाल देती है—केवल इसलिए कि तुम्हारे असत्य कहने की प्रकाण्ड निर्लज्जता को देखकर मैं अवाक और स्तिमित हो गया हूँ।

४९.

'चुक गया दिन'—एक लम्बी साँस
उठी, बनने मूक आशीर्वाद—
सामने था आर्द्र तारा नील,
उमड़ आई असह तेरी याद!
हाय यह प्रति दिन पराजय दिन छिपे के बाद!

५०.

इन्दु-तुल्य शोभने, तुषार-शीतले!
हीरक सी थी तू अतिशय ज्योतिर्मय,
तेरी उस आभा ने मुझे भुलाया।
हीरक है पाषाण—अधिक काठिन्यमय!
आज जान मैं पाया!
आज—दर्प जब चूर्ण हो चुका तेरे चरण तले।
इन्दु-तुल्य शोभने, तुषार-शीतले!
बार-बार अब आकर कहता संशय—
'तू नत था इस वज्र-खण्ड के सम्मुख?'

मैं था ? या प्राणों में कोई दानव दुर्जय,
दुर्निवार, प्रलयोन्मुख !
अब, जब मेरे जीवन-दीपक बुझ-बुझ सभी चले !
इन्दु-तुल्य शोभने, तुषार-शीतले !

(२)

किन्तु छलूँ क्यों अपने को फिर ?
दानव की छाया में अपनी हार छिपाऊँ ?
मैं ही था वह, तेरी पूजा को चिर-तत्पर,
क्यों इस स्वीकृति से घबराऊँ ?
मैं हूँ छलित, किन्तु जीवन आरम्भ तभी जब जायँ छले !
इन्दु-तुल्य शोभने, तुषार-शीतले !

मेरे लिए आज तू पुञ्जीभूता तड़पन :
फिर भी मेरा मस्तक गौरव-उन्नत !
अथक प्रयोगों ही में बसता जीवन—
साहस को करती है हार प्रमाणित !
मम विजयी पीड़ा की व्यञ्जक, अरी पराजय-प्रोज्ज्वले !
इन्दु-तुल्य शोभने, तुषार-शीतले !

(३)

मैं था कलाकार, सर्वतोन्मुखी निज क्षमता का अभिमानी ।
मेरे उर में धधक रही थी अविरल एक अप्रतिम ज्वाला ।
तुझे देखकर मुझे कला ने ही ललकारा—
'तू विजयी यदि इस प्रस्तर-प्रतिमा में तूने जीवन डाला ।'

दीपन की ज्योतिर्मालाएँ, प्रोज्ज्वल तेजःपुञ्ज उठाए :
मैंने देखा, तेरा कण-कण किसी दीप्ति से दमक रहा था ।

तुष्ट हुआ मैं—हाय दर्प ! अब जाना मैंने—
वह तो प्रतिज्योति से तेरा स्निग्ध बाह्य-पट चमक रहा था !

सुन्दरता है बड़ी कला से ! हार हुई, मैं भुगत रहा हूँ ;
किन्तु विधाता का उपहास-भरा अन्याय हुआ यह कैसा ?
प्रस्तर ! नहीं एक चिनगारी तक भी तुझमें जागी—
पर मेरे उर में चुभता है स्पन्दित शिलाखण्ड यह कैसा !

पुष्प-वृन्त-तुल्य रम्य लौह-शृंखले !
इन्दु-तुल्य शोभने, तुषार-शीतले !

मैं तुम्हें किसी भी वस्तु की असूया नहीं करता—किन्तु तुम सब कुछ लेकर चली भर जाओ, मेरे जीवन में से सदा के लिए लुप्त हो जाओ !

तुमने मुझे वेदना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिया ; मुझमें वही वेदना जमकर और वर्द्धमान होकर पुष्पित हो गई है ।

तुम चाहो, तो उन पुष्पों को तोड़ ले जाओ—जो वस्तु मैंने अपने जीवन को अग्नि में तपाकर और भस्म करके सिद्ध की है, उसे अभिमानपूर्वक, सदर्प ले जाओ, जैसे कोई सम्राज्ञी किसी दास का तुच्छ उपहार ग्रहण करती है—किन्तु लेकर फिर बस चली भर जाओ, मेरे जीवन के क्षितिज से परे, जहाँ तुम्हारे उत्ताप का आलोक भी मेरे दृष्टिगोचर न हो !

५२.

इस प्रलयंकर कोलाहल में
मूक हो गया क्यों तेरा स्वर ?
एक चोट में जान गया मैं—
यह जीवन-अणु कितना किंकर !

झुकने दो जीवन के प्यासे
इस मेरे अभिमानी मन को—
आओ तो ओ मेरे अपने
चाहे आज मृत्यु ही बनकर !

५३.

बाहर थी तब राका छिटकी !
यदि तेरा इङ्गित भर पाता,
क्यों विभ्रम में बाहर आता !
प्रेयसि ! तुम ही कुछ कह देतीं
तब जब थी मेरी मति भटकी !

पुरुष ? तर्क का कठपुतला भर
स्त्री—असीम का अंतः निर्झर !
पर मैं तब भी रोया था यद्यपि
मेरी जिह्वा थी अटकी !

बाहर रूठ चला मैं आया—
अब जाना, धोखा था खाया—
अब, जब एक असीम रिक्तता
प्राणों के मन्दिर में खटकी !
बाहर थी तब राका छिटकी !

५४.

वह प्रेत है, उसमें तर्क करने की शक्ति नहीं है । जिस भावना को लेकर वह इस रूप में आया है, उसे अब दूर करने में वह असमर्थ है ।

किन्तु जितनी अच्छी तरह वह इस पूर्व-भावना की सहायता से अपने को समझ सकता है, उससे कहीं अधिक अच्छी तरह उसकी एक अप्रकट संज्ञा उसे समझती है···

तुम उसे कितनी प्रिय थीं—फिर क्यों उसके इच्छाकाल में नहीं आईं ?

अब चली जाओ । समय पर तुम्हारे न आने से जितना कष्ट हुआ था, उससे कहीं अधिक तुम्हारे अब आने से हो रहा है । यदि इसके आघात की इयत्ता को वह नहीं जानता, तो केवल इसीलिए कि वह प्रेत है ।

वह अब आकृष्ट नहीं होता—यद्यपि उसमें विरक्ति भी नहीं है, ग्लानि भी नहीं । उसमें है केवल अपने पूर्व रूप की एक भावना—कि तुम अप्राप्य हो, इच्छा करने पर भी नहीं मिलोगी, कि उसका सारा आकाश भरकर भी तुम सहसा चली जाओगी । इससे अपनी रक्षा के लिए ही वह कवच धारण किये खड़ा है ।

वह जो संसार की विभूति को पाकर भी सिकता-कण से ध्यान नहीं हटा पाता, उसका यही कारण है ।

५५.

क्षणभर पहले ही आ जाते !
प्राण-सुधा को क्या तुम तब ऐसी बिखरी ही पाते !
भरी-भरी आँखों के प्यासे-प्यासे सूने आँसू—
नहीं तुम्हारे ही चरणों क्या लोट-लोट लुट जाते ?
हाय तुम्हारे पथ में आँखें अनझिप बिछ-बिछ जातीं—
आँसू उड़-उड़कर समीर में परिमल-से छा जाते !
उर में होता क्यों अवसाद ? सिसकतीं अगणित आहें !
तब तो मेरे प्राण प्राण-भर अपने में न समाते !
आज लग रहा क्षण-क्षण युग-सा, पर यदि-यदि कुछ होता,
इस क्षण में ही कितने युग-युग, हाय क्षणिक हो जाते !

देखे हैं क्या कभी शिशिर के सूखे पत्ते—
मधु में मधु के एक घूँट के लिए तरसते ?
विफल प्रतीक्षा में ही उनके सुलग रहे होते हैं प्राण,
क्षण भर—फिर एकाएकी हो जाता उनका जीवन-त्राण !
फिर यदि झोंका आया—क्या आया !
मलय-समीरण लाया—क्या लाया ?
जीवन की असफलता का है वह निर्णायक—
वही एक क्षण उनका भाग्य-विधायक !
क्षण भर पहले—चरणों में आकर मरते हैं—
क्षण भर पीछे—चरणों मरकर गिरते हैं !

उसे सोच लो, मुझे देख लो, और मौन रह जाओ—
यह मत पूछो क्षण-भर पहले तुम मुझको क्या पाते ?
क्षणभर-पहले ही आ जाते !

५६.

देवता ! मैंने चिरकाल तक तुम्हारी पूजा की है। किन्तु मैं तुम्हारे आगे वरदान का प्रार्थी नहीं हूँ।

मैंने घोर क्लेश और यातना सहकर पूजा की थी। किन्तु अब मुझे दर्शन करने का भी उत्साह नहीं रहा। पूजा करते-करते मेरा शरीर जर्जर हो गया है, अब मुझमें तुम्हारे वरदान का भार सहने की क्षमता नहीं रही।

मैंने तुम्हें अपनी आराधना से प्रसन्न भर कर लिया है। अब अत्यन्त जर्जर हो गया हूँ और कुछ चाहता नहीं; किन्तु पूर्वाभ्यास के कारण अब भी आराधना किये जा रहा हूँ।

५७.

मैं अपने अपनेपन से मुक्त होकर, निरपेक्ष भाव से अपने जीवन का पर्य्यवलोकन कर रहा हूँ।

एक विस्तृत जाल में एक चिड़िया फँसी हुई छटपटा रही है। पास ही व्याध खड़ा उद्दण्ड भाव से हँस रहा है।

चिड़िया को फँसी और छटपटाती देखकर मुझे पीड़ा और समवेदना नहीं होती, मैं स्वयं वह चिड़िया नहीं हूँ। न ही मुझे सन्तोष और आह्लाद होता है— मैं व्याध नहीं हूँ। मुझे किसी से भी सहानुभूति नहीं है। मैं तुम्हारी माया के जाल को दूर से देखनेवाला एक दर्शक हूँ।

मैं अपने अपनेपन से मुक्त होकर, निरपेक्ष भाव से अपने जीवन का पर्य्यवलोकन कर रहा हूँ।

५८.

कल मुझमें उन्माद जगा था, आज व्यथा निस्पन्द पड़ी—
कल आरक्त लता फूली थी, पत्ती-पत्ती आज झड़ी।
कल दुर्दम्य भूख से तुझको माँग रहे थे मेरे प्राण—
आज आप तू, दात्री, मेरे आगे दत्ता बनी खड़ी।

अपना भूत रौंद पैरों से, बन विकास की असह पुकार—
अपनों को ठुकराकर, मात्र पुरुष आया था तेरे द्वार।
तू भी उतनी ही असहाया, उसी प्रेरणा से आक्रान्त—
तुझमें भी तब जगा हुआ था वह ज्वालामय हाहाकार!

वह कल था, जब आगे था भावी, प्राणों में थी ज्वाला—
आज पड़ा है उसके फूलों पर तम का पट, घन काला!
वह यौवन था, जिसके मद में दोनों ने उन्मद होकर—
इच्छा के झिलमिल प्याले में अनुभव-हालाहल ढाला!

अमर प्रेम है, कहते हैं, तब यह उत्थान-पतन कैसा?
स्थिर है उसकी लौ, तब यह चिर-अस्थिर पागलपन कैसा?
वह है यज्ञ जो कि श्वासों की अविरल आहुतियाँ पाकर—
जला निरन्तर करता है, तब यह बुझने का क्षण कैसा?

सोचा था जग के सम्मुख आदर्श नया हम लाते हैं—
नहीं जानता था कि प्यार में जग ही को दुहराते हैं।
जग है, हम हैं, होंगे भी, पर बना रहा कब किसका प्यार!
केवल इस उलझन के बन्धन में बँध भर हम जाते हैं!

कल ज्वाला थी जहाँ आज यह राख ढँपी चिनगारी है,
कल देने की स्वेच्छा थी अब लेने की लाचारी है।

स्वतन्त्रता में कसक न थी, बन्धन में है उन्माद नहीं —
रो-रो जिए, आज आई हँस-हँस मरने की बारी है !

'कल था, आज हुआ है, कल फिर होगा,' हैं शब्दों के जाल —
मिथ्या, जिनकी मोहकता में, हमको बाँध रहा है काल ।
फिर भी 'सत्य माँगते हैं हम', सबसे बढ़कर है यह झूठ —
सत्य चिरन्तन है भव के पीछे जो हँसता है कंकाल !

५९.

मैं आम के वृक्ष की छाया में लेटा हुआ हूँ । कभी आकाश की ओर देखता हूँ, कभी वृक्ष में फूटती हुई छोटी-छोटी आमियों की ओर । किन्तु मेरा मन शून्य है ।

मेरे मन में कोई साकार कल्पना नहीं जाग्रत होती । मैं मानो एकाग्र होकर किसी वस्तु का ध्यान कर रहा हूँ; किन्तु वह वस्तु क्या है यह मैं स्वयं नहीं जानता । मैं असम्बद्ध रीति पर भी कुछ नहीं सोच पाता ; स्थूल वस्तुओं का जो प्रतिबिम्ब मेरी आँखों में बनता है उसकी अनुभूति मेरे मस्तिष्क को नहीं होती । मैं मानो निर्लिप्त, निर्विकार पड़ा हुआ हूँ—समाधिस्थ बैठा हूँ ।

किन्तु इस समाधि से मेरे मन को शान्ति या विश्राम नहीं प्राप्त होता, मेरी मनः-शक्ति में वृद्धि नहीं होती । मैं केवल एक क्षीण उद्वेग से भरा रह जाता हूँ ।

यह एक जड़ अवस्था है, इसलिए इसमें स्थायित्व नहीं हो सकता । आज ऐसा हूँ, कल मेरा मन एकाएक जाग उठेगा और अपनी सामान्य दिनचर्या में लग जायगा । जागने पर भी उसमें वह पूर्ववत् स्फूर्ति नहीं आयेगी ; वह असाधरण, प्रकाण्ड चेष्टा करने की इच्छा नहीं होगी । केवल एक आन्तरिक अशान्ति, एक उग्र, दुर्दमनीय

कामना फिर जाग उठेगी, और उसकी पूर्त्ति को असम्भव जानते हुए भी मैं विवश हो जाऊँगा···उन्मत्त-सा इधर-उधर भटकने लगूँगा।

किन्तु वह अवस्था चेतन होगी, इसलिए उसमें स्थायित्व भी होगा।

६०.

स्वर्गंगा की महानता में
अप्रतिहत गति से प्रतिकूल दिशा में
चले जा रहे थे दो तारे।

दोनों एकाएक परस्पर
आकर्षित हो, वर्द्धमान गति से निज पथ से हटकर
खिंचे चले आए बेचारे।

प्रेरित शक्ति रहस्यमयी से होकर
प्रतिकूलता भुलाकर, निज स्वाभाविक गति को खोकर,
नियति-चक्र के मारे।

अति समीप आ दोनों पहुँचे,
अपनी गति से जनित तेज को नहीं सह सके
पिघले—भस्म हो गए—क्षार हो गए सारे!

क्षार-पुञ्ज भी शीघ्र खो गया शून्य व्योम में।

व्यञ्जक उनके प्रबल प्रणय का
एकमात्र स्मृति- चिह्न रहा क्या?
नीरव, प्रोज्ज्वल एक क्षणिक विस्फोट मात्र!

उसके बाद ? वही स्वर्गंगा का प्रवाह
तिरस्कार से भरा – निश्चला अमा रात्रि !

हम-तुम भी—प्रतिकूल प्रकृतियाँ,
विषम स्वभाव, और अति उत्कट रुचियाँ—
किस अज्ञात प्रेरणा से दोनों थे खिंचे चले आए—
कितना निकट चले आए !
किन्तु न अपने प्रणय-तेज को भी सह पाए—
शून्य में गए भुलाए !

६१.

दीप बुझ चुका, दीपन की स्मृति
शून्य जगत् में छुट जाएगी ;
टूटे वीणा-तार, पवन में
कम्पन-लय भी लुट जाएगी ;
मधुर सुमन सौरभ लहरें भी
होंगी मूक, भूत के सपने—
कौन जगाएगा तब यह स्मृति—
कभी रहे तुम मेरे अपने ?

तारा-कम्पन ? नित्य-निलय वह
दिन होते ही खो जाता है—
सलिला का कलरव भी सागर-
तट पर नीरव हो जाता है ;

पुष्प, समीरण, जीवन-निधियाँ—
तुममें उलझेंगी क्यों सब ये—
भूले हुए किसी की कसक
जगाकर दीप्त करेंगी कब ये !

पर, ऐसे भी दिन होंगे जब
स्मृति भी मूक हो चुकी होगी ?
जब स्मृति की पीड़ा भी अपना
अन्तिम अश्रु रो चुकी होगी ?
उर में कर सूने का अनुभव,
किसी व्यथा से आहत होकर—
मैं सोचूँगा, कब, कैसे
किसने बोया था इसका अंकुर !

और नहीं पाऊँगा उत्तर—
हाय, नहीं पाऊँगा उत्तर !

६२.

मैं केवल एक सखा चाहता था।

मेरे हृदय में अनेकों के लिए पर्य्याप्त स्थान था। संसार मेरे मित्रों से भरा पड़ा था। किन्तु यही तो विडम्बना थी - मैं असंख्य मित्र नहीं चाहता था, मैं चाहता था केवल एक सखा !

नियति ने मुझे वञ्चित रखा। इसलिए नहीं कि मैंने कामना नहीं की, या खोज

में यत्नशील नहीं हुआ। कितनी उग्र कामना की थी! और प्रयत्न? मैंने इसी खोज में विश्व छान डाला और आज यहाँ हूँ...

(२)

नहीं, नियति को दोष क्यों दूँ? कारण कुछ और था।

मेरे ही हृदय में कुछ ऐसा कठोर, ऐसा अस्पृश्य, ऐसा प्रतारणापूर्ण विकर्षण था···वह कठोर था, किन्तु सूक्ष्म; निराकार था किन्तु अभेद्य...मेरे समीप आकर भी कोई मुझसे अभिन्न नहीं हो सकता था। उस अज्ञेय सत्त्व पर किसी का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता था...

वह था क्या? अहंकार?

नहीं, वह था अपने बल का अदम्य अभिमान···कि मैं केवल पुरुष नहीं, केवल मानव नहीं, एक स्वतंत्र और सक्रिय शक्ति हूँ।

(३)

पता नहीं कैसे, तुम मेरे बहुत समीप आ पाई थीं···और उस अस्थायी अत्यन्त सान्निध्य में मैं काँप गया था। किन्तु तुम कितनी जल्दी परे चली गईं?

मेरा जीवन क्या हो सकता है, यह देखकर मैं फिर अपने पुराने भव में लौट आया हूँ। मुझे वह प्राण-सखा नहीं मिला।

कितना अच्छा होता, अगर ये मित्र भी न मिलते, अगर इस आंशिक पूर्त्ति से वह अनन्त अपूर्त्ति की संज्ञा अधिक जाग्रत न हो पाती!

(४)

हमारी कल्पना के प्रेम में, और हमारी इच्छा के प्रेम में, कितना विभेद है!

दो पत्थर तीव्रगति से आकर एक दूसरे से टकराते हैं, तो दोनों का आकार परिवर्तित हो जाता है। किन्तु वे एक नहीं हो जाते। प्रतिक्रिया के कारण एक दूसरे से परे हटकर फिर स्थिर हो जाते हैं।

तो फिर हमारी प्रेम की कल्पना में क्यों इस अत्यन्त ऐक्य – केवल्य—की कामना रहती है?

बिना स्वतंत्र अस्तित्व रखे प्रेम नहीं होता। यदि मैं अपने को तुममें खो दूँ, तो तुमसे प्रेम नहीं कर सकूँगा। वह केवल प्रेम की ज्वाला से बच भागने का एक साधन है...

किन्तु ज्ञान की इस प्रखर किरण से भी अप्राप्ति का वह दुर्भेद्य अन्धकार कैसे मिटाऊँ ?

६३.

जीवन बीता जा रहा है। प्रत्येक वस्तु बीती जा रही है।

हमने कामना की थी, वह बीत गई। हमने प्रेम करना आरम्भ किया, पर वह भी बीत गया। हम विमुख हो गये, एक दूसरे से घृणा करने लगे, फिर उसकी भी निरर्थकता प्रकट हुई, और फिर वह ज्ञान भी बीत गया।

शीघ्र ही हम भी बीत जायँगे, तुम और मैं। शीघ्र इस जीवन का ही अन्त हो जायगा।

किन्तु इस अनन्त नश्वरता में एक तथ्य रह जायगा -- नकारात्मक तथ्य, किन्तु तथ्य --कि एक क्षण-भर के लिए हम-तुम इस निरर्थक तुमुल के अंश नहीं रहे थे, कि उस क्षण-भर के लिए हम-तुम दोनों ने अपने को पूर्णतया मटियामेट कर दिया था।

६४.

इस परित्यक्त केंचुल की ओर घूम-घूमकर मत देखो। यह अब तुम्हारा शरीर नहीं है।

अपने नये शरीर में चेतनामय स्फूर्ति के स्पन्दन का अनुभव करो, शिराओं में

उत्तप्त रक्त की ध्वनि सुनो, अपनी आकृति में अभिमान पौरुष को देखो ! यह सब पाकर भी क्या तुम उस निर्जीव लोथ से जिसका तुमने परित्याग कर दिया है, अपने मन को नहीं हटा सकते ?

अपने विध्वस्त निवास का अब ध्यान मत करो।

नैसर्गिक कृति के विशाल प्रस्तार को देखो, शीतल पवन के तीक्ष्ण मनुहार का अनुभव करो, उन्मत्त गजराज की तरह बढ़ते हुए जल-प्रतापों का रव सुनो, और उसमें अपना नया वासस्थान पहचानो !

अपने पुराने विध्वस्त निवास के निरर्थक भग्नखण्डों की ओर इस लालसापूर्ण दृष्टि से मत देखो !

६५.

नहीं देखने को उसका मुख
अब किञ्चित् भी हो तुम उत्सुक,
फिर क्यों, प्रणयी, निकट जानकर
उसको, हो उठते हो चंचल ?

क्या केवल आँखों में सञ्चित
दृग-व्यथा कर, होने प्रस्तुत ;
जिससे वह न जानने पाए
हृदय तुम्हारे का कोलाहल ?

पूर्व-प्रेम अब भुला चुके हो,
आकर्षण को भुला चुके हो,
फिर क्यों प्रणयी, विजन स्थलों में
उससे मिलने को हो व्याकुल ?

केवल उसे समीप देखकर
मूक दर्प से आँख फेरकर
बढ़े चले जाने को, ठुकराते
चिर-परिचय को, ओ पागल

प्रणयी ! समझे होगे जल के नीचे होगा ही सागरतल—
कब जानोगे सागरतल में ज्वलित सदा रहता बड़वानल ?

६६.

मेरे गायन की तान टूट गई है ।

मैं चुप हूँ, पर मेरा गायन समाप्त नहीं हुआ, केवल तान मध्य में टूट गई है ।

मुझे याद नहीं आता कि मैं क्या गा रहा था—कि तान कहाँ टूट गई । और जितना ही याद करता हूँ, उतना ही अधिक वह भूलती जाती है, और उतनी ही मेरी उतावली अधिक उलझती जाती है ।

पर मैं अभी क्षण-भर में उसे खोज लूँगा ।

वह भूलेगी कैसे ? मैंने ही तो उसे अभी गाया था ?

तेरे द्वार पर तो मैं केवल इसलिए खड़ा हूँ कि शायद तू कभी किसी भावातिरेक में एकाएक वही गा उठे जो मैं गा रहा था—और तब मैं भूली हुई तान फिर याद करके गाने लगूँ—और चिरकाल तक गाता जाऊँ !

मेरे गायन की तान टूट गई है !

६७.

ऊषा अनागता, पर प्राची
में जगमग तारा एकाकी ;
चेत उठा है शिथिल समीरण ;
मैं अनिमिष हो देख रहा हूँ यह रचना भैरव छविमान !

दूर कहीं पर, रेल कूकती,
पीपल में परभृता हूकती,
स्वर-तरंग का यह सम्मिश्रण
जाने जगा-जगा क्यों जाता उर में विश्व-स्नेह का ज्ञान !

वस्तु मात्र की सुन्दरता से,
जीवन की कोमल कविता से,
भरा छलकता मेरा अन्तर—
किंतु विश्व की इस विपुला आभा में कहीं न तेरा स्थान !

भुला-भुला देती यह माया
कहाँ तुझे मैं हूँ खो आया—
यदपि सोचता बड़े यत्न से ;
बिखर-बिखर जाते विचार हैं पाकर यह आकाश महान !

६८.

मैं तुम्हारी समाधि पर प्रज्वलित एकमात्र दीप हूँ।

श्मशान-भूमि के पास ही गाँव के भोले-भाले लोग अपने अञ्चल से दीपक छिपाए हुए आते हैं, और उनके आलोक से अपने प्रियजनों की समाधियाँ खोज-खोजकर उन पर श्रद्धा-भाव से दीपक रखकर खड़े हो जाते हैं।

प्रत्येक समाधि पर अनेक दीपक जल रहे हैं। केवल तुम्हारी समाधि बहुत दूर देश में उजड़ी पड़ी है।

किन्तु, तुम्हारी समाधि पर प्रज्वलित दीप मैं हूँ। तुम्हारी समाधि दूर देश में नहीं है—मेरा सारा संसार ही तुम्हारी समाधि है। और मेरा शरीर उस पर निश्चल खड़ा होकर अपने जले हुए प्राणों को तुम्हारी ओर उच्छ्वसित कर रहा है, और अनन्त काल तक करता रहेगा।

तुम्हें मेरा यही उपहार है कि मैं तुम्हारी समाधि पर प्रज्वलित एकमात्र दीप हूँ।

मैं तुम्हें भुला रहा हूँ—भुला चुका हूँ। मैं केवल अपने को भस्म कर देने में, अपने प्राणों को तुम्हारी ओर उच्छ्वसित कर देने में, तल्लीन हूँ। तुम्हारी समाधि पर मैं दृढ़ता से खड़ा हूँ, और मेरा प्रत्येक उच्छ्वास परलोक में तुम्हें छू लेता है। किन्तु मुझे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है—मैं तुम्हें भुला चुका हूँ।

मैं तुम्हारी समाधि पर प्रज्वलित एक मात्र दीप हूँ।

६९.

आज चल रे तू अकेला!
आज केंचुल-सा स्खलित हो असह माया का झमेला!

जगत् की क्रीड़ा-स्थली में
संगियों से साथ खेला—
सघन कुञ्जों में पड़े
तूने स्त्रियों का प्यार झेला—

आज वह आया बुलाने
जो सदा निस्संग ही है—
कूच का सामान कर अब
आ गई प्रस्थान-वेला ।

दुःख कैसा ? मोह क्यों ? क्या
सोचता अपना - पराया ?
बेधड़क हो साथ ले चल
जो कभी तू साथ लाया !
जिन्दगी के प्रथम क्षण में
चीखकर तू रो उठा था—
आज भी क्या वह कलपना
ही तुझे बस याद आया ?

हाँ, जगत् तेरे बिना
आबाद वैसा ही रहेगा—
दूसरों के कान में वह
दास्ताँ अपनी कहेगा ।
तू न मुड़-मुड़ देख, धीरज
धार अब अपने हृदय में—
कौन आकर हाथ तेरा
इस निबिड़ पथ पर गहेगा ?

घूमकर पथ देखनेवाले
अनेकों और आए—
मूक होकर बढ़ गए, सब
एक आँसू बिन गिराए :

भर नज़र लख, जान लेते
वे कि यह होकर रहेगा —
कौन कैसे लौट सकता
काल जब आगे बुलाए ?

पथ स्वयं ही काल है गुरु
और शासक भी वही है,
उस तरुण के वृद्ध हाथों
में खिलौना-सी मही है।
धीर-गति से वह बदलता
जा रहा नित खेल के पट—
चित्रता पर उस चतुर की
आज तक यकसाँ रही है !

जन्म जाने मूढ़ ! तूने
कौन-से तम में लिया था ;
किस अँधेरी रात में
अभिसार का अभिनय किया था !
आज संचित स्नेह के तू
कोष खोल उदार हो जा —
जोड़ मत अब, सोच मत अब
क्या किसे तूने दिया था !

ज्योति अन्तिम अब जला ले दो घड़ी करले उजेला—
आज चल रे तू अकेला !

७०.

मेरे आगे तुम ऐसे खड़ी हो मानो विद्युत्कणों का एक पुञ्ज साकार होकर खड़ा हो। तुम वास्तविक होती हुई भी सात्विक नहीं जान पड़तीं—क्योंकि तुममें स्थायित्व नहीं है।

फिर भी, मेरे अन्दर कोई शक्ति तुम्हारी ओर आकृष्ट होती है और तुम्हें सामने देखकर, तुमसे सान्निध्य का अनुभव न करते हुए, तुम्हें न जानते हुए भी, मेरे अन्तःसागर में उथल-पुथल मचा देती है।

(२)

मैं तुम्हें जानता नहीं।

तुम किसी पूर्व परिचय की याद दिलाती हो, पर मैं बहुत प्रयत्न करने पर भी तुम्हें नहीं पहचान पाता।

मुझे नया जीवन प्राप्त हुआ है। कभी-कभी मन में एक अत्यन्त क्षीण भावना उठती है कि जिस पंक से निकलकर मैंने यह नवीन जीवन प्राप्त किया है, तुम उसी पंक की कोई जन्तु हो। जो केंचुल मैंने उतार फेंकी है, तुम उसी का कोई टूटा हुआ अवशेष हो।

इसके अतिरिक्त भी हमारा कोई परिचय या सम्बन्ध है, यह मैं किसी प्रकार भी अनुभव नहीं कर पाता।

(केवल ऐसा कहते-कहते मेरी जिह्वा रुक जाती है और कण्ठ रुद्ध हो जाता है।)

(३)

मैं अपने पुराने जीर्ण शरीर से मुक्त हो गया हूँ।

नया जीवन पाने के उन्माद-मिश्रित आह्लाद में भी मुझे यह बात नहीं भूलती—नवीन जीवन की प्राप्ति भी उतनी सुखद नहीं है जितना यह ज्ञान कि मेरा पुराना जीवन नष्ट हो गया है। नये जीवन के प्रति मुझे अभी तक मोह नहीं हुआ—अभी तो मुझे इसी अनुभूति से अवकाश नहीं मिला कि मैं मुक्त हूँ—कि मेरा जीवन निर्बाध है।

(कभी जब तुम मेरे निकट आई थीं—तब ऐसा नहीं था। तब मैं इस नूतनता के भाव में यह भी भूल गया था कि मेरा तुमसे स्वतन्त्र अस्तित्व है !)

(४)

यह नया जीवन कहाँ से आया ?

संसार-भर में संजीवन की एक उन्मत्त लहर बही जा रही है। लहर नहीं, अनबुझ आग की एक लपट धधकती हुई जा रही है ! उसी की एक झलक मुझे भी मिली है – एक किरण मुझे भी छू गई है।

यह कवि कल्पना के वसन्त की चमक-दमक नहीं है—न शरदृऋतु के रवि का क्षीण घाम ही है। इसमें उनसा क्षुद्र सौन्दर्य नहीं है—इसमें निर्बाध व्यापकत्व की भैरवता है—और उत्तम आलोक !

(इस संजीवन-सागर में भी तुम मृत्यु नहीं, मृत्यु की छाया की तरह मँड़रा रही हो !)

(५)

व्यष्टि-जीवन का अन्धकार !

इस नयी भावना के व्यापकत्व में भी मैं अपने को भुला नहीं पाता, मेरी संज्ञा केवल उस संजीवन के एक अंश तक सीमित है जो मुझे प्राप्त हुआ है। अपनी इस क्षुद्र संज्ञा से मैं वह निर्बाधता नापता हूँ : और समझता हूँ कि मैं उससे एकरूप हूँ। मैं यह नहीं समझ सकता कि मैं उसके एक अंश से ही पागल हुआ-हुआ हूँ—उसके व्यापकत्व को समझ भी नहीं पाया।

पुराने जीवन की रूढ़ि ने अभी तक मुझे नहीं छोड़ा—व्यष्टि-भाव अभी भी अज्ञात रूप से मुझे भुला देता है।

(६)

विज्ञान का गम्भीर स्वर कहता है, विश्व का प्रस्तार धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है—विश्व सीमित होते हुए भी धीरे-धीरे फैलता जा रहा है।

दर्शन का चिन्तित स्वर कहता है, मनुष्य का विवेक धीरे-धीरे अधिकाधिक प्रस्फुटित होता जा रहा है।

फिर यह चेतन संज्ञा, यह मनोवेग, क्यों संकीर्णतर, उग्रतर, तीक्ष्णतर होता जाता है ? यह क्यों नहीं प्रस्फुरित होकर, अपने संकीर्ण एकव्रत को छोड़कर, व्यापक रूप धारण करता, क्यों नहीं हमारे क्षुद्र हृदय एक को भुलाकर अनेक को—विश्वैक्य को—अपने भीतर स्थान दे पाते...

(७)

शब्द—शब्द—शब्द···बाह्य आकारों का आडम्बर !

एक प्राणहीन शव को छोड़ते हुए मुझे मोह होता है—फिर भी मैं समष्टि जीवन की कल्पना कर रहा हूँ—और इसका अभिमान करता हूँ ?

अरी निराकार किन्तु प्रज्वलित आग ! इस भाव को निकालकर भस्म कर दे ! पुराने जीवन के जो चिथड़े मेरे नवीन शरीर से चिपके हुए हैं, उन्हें अलग कर दे। मैं पंक से उत्पन्न हुआ हूँ, तू अपने ताप से उसे सुखा दे—ताकि मैं इस विश्वभाव में अपना व्यक्तित्व खो सकूँ—मैं भी उसी आग की एक लपट हो जाऊँ—कोई देखकर यह न कह सके, 'यह तू है—इतनी तेरी इयत्ता है !'

७१.

नहीं काँपता है अब अंतर।
नहीं कसकती अब अवहेला, नहीं सालता मौन निरंतर !

तुझसे आँख मिलाता हूँ अब, तो भी नहीं हुलसता है उर,
किन्तु साथ ही कमी राग की देख नहीं होता हूँ आतुर।

नहीं चाहता अब परिचय तेरे पर कुछ अधिकार दिखाना—
नहीं चाहता तेरा होना, यह प्रतिदान दया का पाना।

देख तुझे पर, पूर्व-प्रेम की प्रतिक्रिया से होकर विचलित —
नहीं फणी-सा रुक जाता हूँ पीड़ा से अब होकर स्तम्भित ।

तुझे 'मित्र' कहते अब वाणी मेरी बिल्कुल नहीं झिझकती —
तुझे, अपरिचित नहीं, किंतु जो उससे अधिक नहीं है कुछ भी !

लुट चुका तेरा प्रणयी का सिंहासन मेरा अभ्यन्तर —
नहीं कसकता रिक्त हुआ भी, नहीं सालती याद निरंतर !

७२.

मैं जीवन-समुद्र पार करके विश्राम के स्थल पर पहुँच गया हूँ ।

जिस तूफान में मैं खो गया था, उसमें से निकलने का पथ विद्युत् के प्रकाश की एक रेखा ने इंगित कर दिया है ।

प्रेम को प्राप्त करना, जीवन के मिष्टान्नों को चखना और जीवन के मीठे आसव में मत्त रहना मेरे लिए नहीं है । मेरा काम केवल इतना ही है कि जो प्रेम औरों ने प्राप्त किया है, जिस आसव ने दूसरों को उन्मत्त किया है, उसकी पवित्र मिठास को अपनी वाणी द्वारा संसार-भर में फैला दूँ —

और जो दुःख और क्लेश मैंने देखे हैं, उन्हें अपने पास संचित कर लूँ — उससे एक विराट् समाधि बना लूँ जिसमें मृत्यु के बाद मेरा शरीर दब जाय ।

मैं विश्राम के स्थल पर पहुँच गया हूँ — अब अपना अंतिम कार्य पूरा करके विश्राम करूँगा ।

७३.

बिदा ! बिदा ! इस विकल विश्व से बिदा ले चुका !
अपने इस अतिव्यस्त जगत से जुदा हो चुका !

देख रहा हूँ मुड़-मुड़कर—यह मोह नहीं है—
नहीं हृदय की विकल निबलता फूट रही है !

सोच रहा हूँ कल जिसको खोजते स्वयं खो जाना है—
उस निर्वेद, अतीन्द्रिय जग में क्या-क्या मुझे भुलाना है !

७४.

हमें एक दूसरे को कुछ नहीं कहना है, फिर भी हम क्यों रुके हुए हैं ?

हम क्यों अपने को एक दूसरे से बाँधने का प्रयत्न कर रहे हैं—जब कि हमारे बीच में पीड़ा के अतिरिक्त किसी बात का सान्निध्य नहीं है ?

हम दोनों बहुत दूर के यात्री हैं। हम दोनों ही अपने बन्धु-बान्धवों को छोड़कर, उन्हें कष्ट देकर और दुःखित करते हुए, यहाँ पहुँचे हैं और हमारा मिलन हुआ है।

किन्तु हमारे मिलन में अपरिचय के अतिरिक्त कोई भाव नहीं है।

हम परस्पर एक दूसरे को अजनबी की तरह घूरते हैं—और उस घूरने में सहानुभूतिपूर्ण कौतुक तक नहीं है—केवल एक क्षीण विरोध का भाव है।

मानो हम वर्षों तक सुदूर देशों से पत्र-व्यवहार करते रहे हों, और अपने हृदयों में एक दूसरे की दिव्य मूर्तियाँ स्थापित किये हों। वास्तविकता की चोट से ये मूर्तियाँ, जो पुरानी होने के कारण सच्ची जान पड़ती थीं, टूट गई हैं—और हम आहत, पीड़ित और दग्ध भाव से खड़े हैं। हमारा अपरिचय पूर्ववत् हो गया है।

हम अपरिचित हैं, प्रेम नहीं करते। इतना भी प्रेम नहीं कि भली भाँति घृणा ही कर सकें।

फिर हम इस व्यर्थ लीला को छोड़कर अपने विभिन्न पथों पर यात्रा क्यों नहीं किये जाते - क्यों रुके हुए हैं?

७५.

विदा हो चुकी (मिलन हुआ कब?) पर हा, फिर भी 'बिदा! बिदा!'
नहीं कभी आया था जो उसको कहता हूँ अब तू जा!'
फिर भी क्यों अन्तर में जाग रहा कोई सोया परिताप?
कहता, 'इसको भी मेटेगा तू जो कुछ भी कभी न था?'

न मिले थे! कैसे होगी टूट अलग होने में चोट?
पर अन्तस्तल में यह कैसा उबल-उबल पड़ता विस्फोट?
उर में उठती है रह-रह-कर कोई छिपी-छिपी-सी हूक—
प्रकटित होकर भी रह जाती मानस-अन्धकार की ओट!

राह-राह के राही सहसा जब पथ पर मिल जाते हैं—
चौराहे पर आकर क्या वे अलग नहीं हो जाते हैं?
प्रणय-घात होता है क्या तब जब उस घनिष्ठता के बाद
आशापूर्ण हँसी हँसते वे तमसा में खो जाते हैं?

सत्य नहीं मृगतृषा सही, मैं तुमको दीख सका तो था—
खो वन-पथ में गया, किन्तु मैं बन सहपथिक चला तो था!
नहीं चाहता कोसो, यह भी नहीं कि मुझ पर हो विक्षोभ—
'बिगड़ गया' यह भाव रहे क्यों, सोचो 'कभी बना तो था'!

मैं यह भी क्यों कहूँ कि मुझको मृतवत् ही लेना तुम जान,
'नहीं हुआ ही था वह'-यों भी या रखना अपना अभिमान ?
जीवन के गहरे अनुभव यों नहीं कभी भूले जाते-
सदा रिक्त ही रहता है जो एक बार भर चुकता स्थान!

कैसे कहूँ 'भुला देना', कैसे यह भी 'मत जाना भूल'—
कैसे कहूँ 'फूल, मत होना' कैसे कहूँ कि 'होना शूल'।
शंकित-मन जो मैं कहता हूँ, शंकित-मन ही तुम सुन लो—
नहीं तुम्हारी ही, यह है मेरे भी अरमानों की धूल!

७६.

तुम्हारी अपरिचित आकृति को देखकर क्यों मेरे ओठ एकाएक उन्मत्त लालसा से धधक उठे हैं ?

तुम्हारी अज्ञात आत्मा तक पहुँचने के लिए क्यों मेरा अन्तर पिंजरबद्ध व्याघ्र की तरह छटपटा रहा है ?

मैं बन्दी हूँ, परदेशी हूँ। मेरा शरीर लौह-शृङ्खलाओं में बँधा है। मेरा रोम-रोम इस परायेपन की पीड़ा से व्याकुल हो रहा है, मेरी नाड़ी के प्रत्येक स्पन्दन से पुकार उठती है, 'तुम यहाँ नहीं हो—तुम हो ही नहीं ; और वह, वह एक दूसरी सृष्टि में बीते हुए तुम्हारे भूतकाल से अधिक तुम्हारी कुछ नहीं है।'

मैं परदेशी हूँ। मेरी जाति तुम्हारी जाति से परिचित नहीं है। मेरी आत्मा का तुम्हारी आत्मा से कोई सान्निध्य नहीं है।

फिर क्यों मेरी आत्मा बद्ध व्याघ्र की तरह छटपटा रही है, क्यों मेरे ओठ इस प्रकम्पित, उन्मत्त लालसा से धधक उठे हैं ?

७७.

तरु पर कुहुक उठी पड़कुलिया—
मुझमें सहसा स्मृति-सा बोला—
गत बसंत का सौरभ, छलिया।

किसी अचीन्हें कर ने खोला—
द्वार किसी भूले यौवन का—
फूटा स्मृति-सञ्चय का फोला।

लगा फेरने मन का मनका
पर हा, यह अनहोनी कैसी—
बिखर गया सब धन जीवन का!

जीवन-माला पहले जैसी—
किन्तु एक ही उसमें दाना—
तू निरुपम थी, अपने ऐसी!

तेरा कहा न मैंने माना—
'भर लो अपनी अनुभव-डलिया।'
निरुपम! अब क्या रोना-गाना!

'भर लो अपनी अनुभव-डलिया'!
धूल, धूल मधु की रंग-रलियाँ!
परिचित भी तू रही अचीन्ही—
तरु पर कुहुक उठी पड़कुलिया!

७८.

तुम आये, तुम चले गये ! नाता जोड़ा था, तोड़ गये !
हे अबाध ! जाते अबाध सूनापन मुझको छोड़ गये !
अशुभ विषैली छायाओं से, अब मैं जीवन भरता हूँ—
नीच अजान नहीं हूँ, प्रियतम ! सूनेपन से डरता हूँ !

७९.

यह केवल एक मनोविकार है ।

हमारी बुद्धि, हमारी विश्लेषण-शक्ति, जो हमारी सभ्यता और संस्कृति का फल है, एक दूसरे की त्रुटियों को जान गई है । मनसा हम विमुख हो गये हैं, और विश्रान्ति से भरे एक क्षीण औत्सुक्य से एक दूसरे को देख रहे हैं ;

किन्तु हमारी बाह्य आत्मा ने, हमारे शरीर ने, अभी तक वह संगीत नहीं भुलाया । हमारे तन अब भी उसी उन्मत्त वेदना से तने हुए हैं जिसे हमारे मन भूल गये हैं और नियंत्रित नहीं रख सकते. . . . .

मेरे अभ्यन्तर का उन्मत्त गजराज वनस्थली में विहार कर रहा है, और तुममें अपनी खोई हुई करिणी को पहचानता है ।

८०.

मैं जगत को प्यार करके लौट आया !
सिर झुकाए चल रहा था,
जान अपने को अकेला,
थक गये थे प्राण, बोझल
हो गया जग का झमेला,

राह में जाने कहाँ कट-सा
गिरा कब जाल कोई—
चुम्बनों की छाप से यह
पुलक मेरा गात आया।

ओ सखे! बोलो कहाँ से
तुम हुए थे साथ मेरे—
किस समय तुमने गहे थे
इस निविड़ में हाथ मेरे?
किन्तु ओ दाता विनोदी
यह तुम्हारी देन कैसी?
छोड़ने भव को चला था
लौट घर परिणीत आया!

घुमड़ आई है घटा, चल
रही आँधी सनसनाती,
आज किन्तु कठोर उसकी
चोट मुझको छू न पाती—
रण-विमुख भी आज मुझको
कवच मेरा मिल गया है—
मर्म मेरे को लपेटे
है तुम्हारी स्निग्ध छाया!

राह में तुम क्यों भला
आते पकड़ने हाथ मेरे?
तब रहे क्या उस जगत में
भी सदा तुम साथ मेरे?

और मैं तुमको भुलाकर
क्षुद्र ममताएँ समेटे—
माँगता दर-दर फिरा
दर-दर गया था दुरदुराया !

देख तब तुमने लिये
होंगे सभी उत्पात मेरे
वासना की मार से जब
झुलसते थे गात मेरे ?
और फिर भी तुम झुके
मुझपर, छिपा ली लाज मेरी—
इस कुमति को साथ अपने
एक आसन पर बिठाया !

प्यार का मैं था भिखारी
प्यार ही धन था तुम्हारा ;
मुझ मलिन को बीच पथ में
अंक ले तुमने दुलारा ।
यह तुम्हारा स्पर्श या
संजीवनी मैं पा गया हूँ—
असह प्राणोन्मेष से
व्याकुल हुई यह जीर्ण काया ।

ओठ सूखे थे, तभी था
घुमड़ता अवसाद मन में,
पर तुम्हारे परस ने प्रिय,
भर दिया आह्लाद मन में ।

टिमटिमाने में- धुआँ जो
दीप मेरा दे रहा था—
उमड़ उसके तृषित उर में
स्नेह-पारावार आया !

मैं अनाथ भटक रहा था
किन्तु आज सनाथ आया—
निज कुटीर-द्वार पर मैं
प्रिय तुम्हारे साथ आया !
मैं जगत को प्यार करके लौट आया !

८१.

तुम्हारे प्रणय का कुहरा आंसुओं की नमी से और सहानुभूति की तरलता से सजीव हो रहा है, और मैं उस सजीव यवनिका को भेदता हुआ चला जा रहा हूँ।

लालसा के घने श्यामकाय वृक्ष, और अज्ञात विरोधों की झाड़ियाँ उस कुहरे में छिपी रहती हैं, और देखने में नही आतीं। किन्तु जब मैं आगे बढ़ने को होता हूँ, तब उनसे टकराकर रुक जाता हूँ। तब उनका वास्तविक स्थूल अप्रसाध्य, अव्याकृत कठोरत्व प्रकट हो जाता है।

मैं तुम्हारे प्रणय के घने कुहरे को भेदता हुआ चला जा रहा हूँ।

८२.

निराश प्रकृति विहाग गा रही है, पर मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में मौन खड़ा हूँ।
आकाश की आकारहीनता की करुण पुकार की तरह टिटिहरी रो रही है—

'चीन्हूँ !' चीन्हूँ !' पर अपनी अभिलाषाओं के साकार पुञ्ज को कहीं चीन्ह नहीं पाती !

दूर कुएँ पर रहट चल रहा है। उसकी थकी हुई पीड़ा फफक-फफककर कहती है पालूँगी ! पालूँगी !' पर स्वभाव से अस्थिर पानी बहता ही चला जाता है।

रात की सायँ-सायँ करती हुई नीरवता कहती है, 'मुझमें सब कुछ स्थिर है', पर अवसाद की भाफ़-भरी साँस की तरह दो सारस उसके हृदय को चीरते हुए चले जा रहे हैं।

निराश प्रकृति विहाग गा रही है, पर मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में मौन खड़ा हूँ !

८३.

जब तुम चली जा रही थीं, तब मैं तुम्हारे पथ के एक ओर खड़ा था।

तुमसे बात करने का साहस मुझमें नष्ट हो चुका था। मैंने डरते-डरते तुम्हारे अञ्चल का छोर पकड़ लिया।

(न-जाने मैंने ऐसा क्यों किया ? मुझे तुमसे कुछ पाने की इच्छा नहीं थी।)

तुम रुक गईं, किन्तु कुछ बोलीं नहीं, न तुमने मेरी ओर देखा ही। मैं बार-बार तुम्हारे मुख को अपनी ओर फिराता, किन्तु तुम फिर-फिर घूम जातीं। अन्त में मैंने डरते डरते अपना मस्तक तुम्हारे अधरों पर दिया।

(न-जाने मैंने ऐसा क्यों किया ? मुझे तुमसे कुछ पाने की इच्छा नहीं थी।)

किन्तु जब तुम इसी प्रकार निश्चल खड़ी रहीं, तुम्हारे अधर हिले भी नहीं, न तुमने मुख ही फेरा, तब मुझे व्यथा और क्षोभ हुआ, और मैं तुम्हें वहीं छोड़कर चला आया।

८४.

अब भी तुम निर्भीक होकर मेरी अवहेलना कर सकती हो।

क्योंकि तुम गिर चुकी हो, पर ओ घृणामयी प्रतिमे! अभी हमारा प्रेम नहीं मरा।

तुम अब भी इतनी प्रभावशालिनी हो कि मुझे पीड़ा दे सकती हो, और मैं अब भी इतना निर्बल हूँ कि उससे व्यथित हो सकता हूँ।

८५.

विफले! विश्वक्षेत्र में खो जा!
पुञ्जीभूते प्रणय - वेदने!
आज विस्मृता हो जा!

क्या है प्रेम? घनीभूता इच्छाओं की ज्वाला है!
क्या है विरह? प्रेम की बुझती राख-भरा प्याला है!
तू? जाने किस-किस जीवन के विच्छेदों की पीड़ा—
नभ के कोने-कोने में छा बीज व्यथा का बो जा!
विफले! विश्वक्षेत्र में खो जा!
नाम प्रणय,-पर अन्तस्थल में फूट जगानेवाली!
एकाकिनि, पर जग-भर को उद्भ्रान्त नचानेवाली!
अरी, हृदय की तृषित हूक—उन्मत्त वासना-हाला!
क्यों उठती है सिहर-सिहर, आ! मम प्राणों में सो जा!
विफले! विश्वक्षेत्र में खो जा!
पुञ्जीभूते प्रणय - वेदने!
आज विस्मृता हो जा!

८६.

प्रत्यूष के क्षीणतर होते हुए अन्धकार में क्षितिज-रेखा के कुछ ऊपर दो तारे चमक रहे हैं।

मुझसे कुछ दूर वृक्षों के झुरमुट की घनी छाया के अन्धकार में दो खद्योत जगमगा रहे हैं।

नदी का मन्दगामी प्रवाह आकाश के न-जाने किस छोर से थोड़ा सा-आलोक एकत्रित करके सीसे-सा झलक रहा है।

मैं एक अलस जिज्ञासा से भरा हुआ सोच रहा हूँ कि जो अभेद अन्धकार मुझे घेरे हुए है, मुझमें व्याप्त हो रहा है और मेरे जीवन को बुझा-बुझा देता है, उसकी सीमा कहाँ है।

८७.

मेरे प्राण आज कहते हैं
वह प्राचीन, अकथ्य कथा,
जिसमें व्यक्त हुई थी—
प्रथम पुरुष की प्रणय व्यथा!

फिर भी पर वह चिर-नूतन
हो सकती नहीं पुरानी,
जब तक तुझमें जीवन है
मुझमें उसका आकर्षण,
जब तक तू रूप-शिखा-सी
मैं विह्वल आत्म-आवेदन;

तेरी आँखों में रस है
मेरी आँखों में पानी !
जब तक मानव मानव है—
—वह आदिम एक कहानी !

प्रणय-कथा यह प्रथम-पुरुष से भी प्राचीन
तब, जब सफल-समापन में हो जावे वह चिर-लीन !

८८.

तुममें या मुझमें, या हमारे परस्पर प्रणय-व्यवहार में, अभिजात कुछ भी नहीं है। केवल हम तीनों के मिलने से उत्पन्न हुई आत्म-बलिदान की कामना ही अभिजात है।

तुममें, या मुझमें, या हमारे प्रेम में ही, अजस्रता नहीं है। केवल हम तीनों के संघर्षण से उत्पन्न होनेवाली पीड़ा ही अजस्र है।

८९.

कभी-कभी मेरी आँखों के आगे से मानो एकाएक कोई परदा हट जाता है—और मैं तुममें निहित सत्य को पहचान लेता हूँ।

प्रेम में बन्धन नहीं है। हमें जो प्रिय वस्तु को स्वायत्त करने की इच्छा होती है वह इच्छा जिसे हम प्रेम का आकर्षण कहते है—वह केवल हमारी सामाजिक अधोगति का एक ग़ुबार है।

हमने प्रेम की सरलता नष्ट कर दी है। हमने अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारों से बाँधकर उसे एक मोह-जाल मात्र बना दिया है।

प्रेम आकाश की तरह स्वच्छ और सरल है। हम और तुम उसमें उड़नेवाले पक्षी हैं—चाहे किधर भी उड़ें, उसका विस्तार हमें घेरे रहता है और हमें धारण करता है। और उसके असीम ऐक्य में लीन होकर भी हम एक दूसरे के अधीन नहीं होते, अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं नष्ट करते। 'बन्धन में स्वातन्त्र्य' नामक शब्द-जाल को प्रेम समझनेवाली अवस्था से हम बहुत परे हैं।

किन्तु 'प्रेम अधिकार नहीं है,' यह ज्ञान मुझे तभी होता है जब मैं तुम्हें स्वायत्त कर लेता हूँ।

९०.

उखड़ा-सा दिन, उजड़ा-सा नभ,
उचटे-से हेमन्ती बादल—
क्या इसी शून्य में खोएगा
अपने दुलार का अन्तिम पल?

ढलते दिन में तन्द्रा-सी से
सहसा जगकर अलसाया-सा,
करतल पर तेरे कुन्तल धर
मैं बैठा हूँ भरमाया-सा—

भटकी-सी मेरी अनामिका
सीमन्त टोहती है तेरा—
हैं जहाँ किसी एकाकी ने
संयोग लिखा तेरा-मेरा।

यह लघु क्षण अक्षर है, अव्यय,
तद्गत हम, सुख-आलस्य-विकल ;
ओ दिन अलसाए, हेमन्ती,
धीरे ढल, धीरे-धीरे ढल !

९१.

तुम मेरे जीवन-आकाश में मँड़राता हुआ एक छोटा-सा मेघपुञ्ज हो ।

तुम तन्वंगी हो, तुम लचीली और तरल हो, तुम शुभ्र, सुन्दर और—नश्वर हो । जीवन में आनन्द-लाभ के लिए जिन-जिन उपकरणों की आवश्यकता है, वे सभी तुममें उपस्थित हैं ।

फिर भी तुम मेरे जीवन-आकाश में मँड़राता हुआ एक छोटा मेघपुञ्ज मात्र हो !

९२.

मुझे जो बार-बार यह भावना होती है कि तुम मुझे प्रेम नहीं करतीं, यह केवल लालसा की स्वार्थमयी प्रेरणा है ।

मैं अपने को संसार का केन्द्र समझकर चाहता हूँ कि वह मेरी परिक्रमा करे । मुझे अभी तक यह ज्ञान नहीं हुआ कि केन्द्र न मैं हूँ, न तुम ; जिस प्रकार हमारा संसार मेरे और तुम्हारे बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार हम-तुम भी संसार से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते । मैं, तुम और संसार, तीनों का एकीकरण ही हमारे प्रेम का सच्चा रूप है ।

इस ज्ञान के उद्रेक में मैं फिर, अपनी स्वतंत्र इच्छा से तुम्हें वरता हूँ। विवश होकर नहीं, मूक अभिमान से दंशित होकर नहीं—अपने, तुम्हारे और संसार के अनन्त ऐक्य की संज्ञा से प्रेरित होकर, पुनः तुम्हारे आगे अपने को निछावर करता हूँ।

९३.

आओ, हम तुम अपने संसार का फिर से निर्माण करें।

हम बहुत ऊँचा उड़ना चाहते थे, सूर्य्य के ताप से हमारे पंख झुलस गए। उस वातावरण में हमारा स्थान नहीं था।

हम अपना नीड़ पृथ्वी पर बनाएँगे।

नहीं, वृक्ष की डालों पर नहीं ; वहाँ भी पवन का वेग हमें कष्ट देगा। हम अपना छोटा-सा नीड़ इस भूमि पर ही बनाएँगे।

हमने बहुत मान किया है।

किन्तु भूमि पर हमारे घर में अब वह अभिमान नहीं होगा। लोग हमें अति क्षुद्र समझकर ठुकराना भी भूल जायँगे।

नहीं, हम अपने लिए एक नीड़ भी क्यों बनाएँ ?

हमें अपना स्वत्व कहने को कुछ नहीं चाहिए। हम भूमि पर रहेंगे—केवल हम तुम, और हमारे आगे निस्सीम संसार। जब हमारे पास कुछ भी नहीं रहेगा जो दुनिया हम से छीन सके, तब हमारे जीवन में विष-बीज बोने कोई नहीं आएगा।

अतः आओ, हम तुम अपने संसार का फिर से निर्माण करें।

९४.

वह पागल है। मैं उसका निरन्तर प्रयास देखकर उसे समझाता हूँ, 'पागल! ओ पागल! तू इस टूटे हुए कलश में पानी क्यों भरता है? इसका क्या फल होगा? यह पानी बहकर लाभहीन अनुभव की रेत में सूख जायगा, और तू प्यासा खड़ा देखता रहेगा।'

किन्तु वह मानो अलौकिक ज्ञान पाकर बड़ी दृढ़ निष्ठा से कहता है, जहाँ जल गिरता है, वहाँ जीवन प्रकट होता है। दुख ही में सुख का अंकुर है।'

वह पागल है। असाध पागल है!

९५.

भीम-प्रवाहिनी नदी के कूल पर बैठा मैं दीप जला-जलाकर उसमें छोड़ता जा रहा हूँ।

प्रत्येक दीप का विसर्जन करके मैं सोचता हूँ—'यही मेरा अन्तिम दीप है।'

किन्तु जब वह धीरे-धीरे बहुत दूर निकलकर दृष्टि से ओझल हो जाता है, जब श्यामा नदी के वक्ष पर उसके क्षीण हास्य की अन्तिम आलोक-रेखा बुझ जाती है, तब अपने आगे असंख्य तारकों से भरे नभ-मण्डल का शीतल और नीरव सूनापन देखकर मेरे भीरु हृदय में फिर एक बन्धु की चाह जाग्रत हो उठती है। मैं फिर एक दीप जलाकर उसे जल पर तैरा देता हूँ।

उसका कम्पित और अनिश्चयपूर्ण नृत्य देखकर मुझे मालूम होता है कि मैं अकेला नहीं हूँ – कोई अपनी क्षण-भंगुर ज्योति से मुझे सान्त्वना दे रहा है।

मैं अपने सारे दीप बहा चुका हूँ। यह, जिसे मैं लिए खड़ा हूँ, यही एकमात्र बच गया है।

इसकी कम्पित शिखा से मेरे आस-पास एक छोटा-सा आलोकित वृत्त बन रहा है। उसे देखकर मैं अनुभव करता हूँ कि मैं किसी अज्ञात स्नेह और सहानुभूति से घिरा हुआ हूँ।

अन्तिम बन्धु! मैं तुम्हारा विसर्जन नहीं कर सकूँगा। तुम्हें यहीं कूल पर छोड़कर मैं स्वयं चला जा रहा हूँ।

मेरे क्षणिक जीवन के क्षणिकतर स्मृति-चिह्न के समान तुम यहाँ चलते रहो, कुछ काल के लिए—मेरे चले जाने तक—और उस स्थान को आलोकित किये रहो, जिस पर खड़े होकर मैंने अपने सारे दीप भीम-प्रवाहिनी नदी के वक्ष पर विसर्जित कर दिये हैं।

९७.

हमारा प्रेम एक प्रज्वलित दीप है। तुम उस दीप की शिखा हो, मैं उसकी छाया।

मेरे अन्तर की दुर्दमनीय लालसाएँ अन्धकार की लपलपाती जिह्वाओं-सी तुम्हें ग्रसने आती हैं, और तुम्हारी कान्ति पर क्रूर आक्रमण करती हैं। तुम एकाएक काँप उठती हो, मानो अभी मुझे छोड़कर चली जाओगी।

किन्तु तुम्हारा अवसाद क्षण ही भर में धुआँ होकर उड़ जाता है—और तुम्हारी काया फिर अपनी अम्लान आभा से दीप्त हो उठती है। मैं भी स्थिर होकर अपने स्थान पर आ जाता हूँ, और दीप की आड़ से तुम्हारा अनिन्द्य और अनिर्वचनीय सौंदर्य देखा करता हूँ।

हमारा प्रेम एक प्रज्वलित दीप है। तुम उस दीप की शिखा हो, मैं उसकी छाया।

९७.

मैं तुम्हें सम्पूर्णतः जान गया हूँ।

तुम क्षितिज की सन्धि-रेखा के आकाश हो, और मैं वहीं की पृथ्वी।

हम दोनों अभिन्न हैं, तथापि हमारे स्थूल आकार अलग-अलग हैं ; हम दोनों ही सात्विक हैं, पर हमारा अस्तित्व नहीं है; हम दोनों के प्रस्तार सीमित हैं, फिर भी हमारा मिलन अनन्त और अखण्ड है।

मैं तुम्हें सम्पूर्णतः जान गया हूँ।

९८.

मेरे उर की आलोक-किरण !
तेरी आभा से स्पन्दित है मेरा अस्फुट जीवन क्षण-क्षण !
मैंने रजनी का भार सहा,
— तम वारपार का ज्वार बहा—
पर तारों का आलोक तरल
मुझको चिर अस्वीकार रहा ;
सुख-शय्या का आह्वान मिला—
मति-भ्रामक स्वप्न-वितान मिला—
पर तेरे जागरूक प्रहरी
का खड्गहस्त ही प्यार रहा !
तेरे वर से है अनल-गर्भ बन गया इयत्ता का कण-कण!
मेरे उर की आलोक-किरण !

९९.

तुम चैत्र के बसन्त की तरह हो, प्राप्ति से शून्य किन्तु आशा से परिपूरित !

जिस प्रकार चैत्र में पुरानी त्वचा झड़ चुकी होती है, शिशिर का कठोरत्व नष्ट हो चुकता है, विटप-श्रेणियाँ नयी-नयी कोपलों से भूषित हो उठती हैं, विश्व-भर नयी सृष्टि के मादक आनन्द से भर उठता है –

किन्तु उस सृष्टि के अवतंस, उस आनन्द को सफलता के उच्छ्वास, नये बसंत-कुसुम अभी प्रकट नहीं हो पाते ;

उसी प्रकार मैं तुम्हारे शरीर का चिर-नूतन सौंदर्य देखता हूँ, तुम्हारे अनुराग की ज्योत्स्ना, तुम्हारे प्रेम की दीप्ति—

किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी तुम्हें नहीं पाता !

तुम चैत्र के बसन्त की तरह हो, प्राप्ति से शून्य किन्तु आशा से परिपूरित !

(२)

अल्लाह के निन्नानवे नामों की तरह तुम्हारी विरुदावली भी असम्पूर्ण ही रह जाती है ।

तुम्हारे अनेक रूपों को विश्व देखता है और प्यार करता है, किन्तु तुम्हारा जो अत्यन्त अपनापन है, तुम्हारे अस्तित्व का सार, उसे कोई देखता या जानता नहीं ।

जो तुम्हारे उस रूप को पहचान सकता है, उसके तुम सम्पूर्णतः वश हो जाओगी । जो तुम्हारे उस नाम का उच्चारण कर सकता है, वह तुम्हारा सखा, पति, राजा, देवता और ईश्वर है ।

किन्तु अल्लाह के निन्नानवे नामों की तरह तुम्हारी विरुदावली भी असम्पूर्ण रह जाती है ।

१००.

इस अपूर्ण जग में कब किसने
प्रिय, तेरा रहस्य पहचाना ?
क्यों न हाथ फिर मेरा काँपे
छू माला का अन्तिम दाना ?

निष्पत्ति

प्रियतमे ! तुम मुझे कहती हो कि मैं उस अनुभूति के बारे में लिखूँ, पर मैं लिख नहीं पाता।

मैं उस पक्षी की तरह हूँ जो सूर्य के तेज को छूकर आया है, किन्तु जो थका हुआ, पंख खोले पृथ्वी पर पड़ा है, जो सूर्य की ओर भी दीन दृष्टि से देखता है और कुछ दूर पर स्वच्छ नीर के सरोवर की ओर भी, किन्तु न उड़ पाता है और न उस नीर तक ही पहुँच पाता है···

मैं अब भी उस अनुभूति की तेजोमय पीड़ा से काँप रहा हूँ—किन्तु वह गगन-चुम्बी उड़ान···

प्रियतमे ! तुम मुझसे कहती हो कि मैं उस अनुभूति के बारे में लिखूँ, पर मैं लिख नहीं पाता·····

एकायन

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

उर में जगमग जिस दीपक का
दीप्त अथक आलोक—
उसकी किरण-अँगुलियाँ छूकर
सफल करें यह ओक
जिसके मेरे बीच बाँध-सा
रहा हमारा प्यार—
उसके लिए खुला है युगयुग
'एकायन' का द्वार !

छाया-कथा

एक ही द्वार था।

तुमने द्वार खटखटाया।

मैंने द्वार खोल दिया।

तुमने भीतर प्रवेश किया। मैंने तुम्हें पहचानकर तुम्हारा स्वागत किया, तुम्हारे चरण धोए, तुम्हारे पथ में फूल बिछाए और तुम्हें आसन तक ले गई।

किन्तु मेरे मन में बराबर यही आशंका रही कि कहीं तुम लौटकर चले न जाओ। इसलिए जभी तुम आसन पर आरूढ़ हुए, मैं दौड़कर गई और द्वार बन्द कर दिया।

लौटकर मैंने देखा, जो फूल मैंने तुम्हारे पथ में बिखराए थे, वे मुरझा गए हैं। मैं दौड़कर आसन की ओर गई।

वह रीता था।

तुम वहाँ नहीं थे।

मैं रोई। अनुताप का सागर उमड़ आया, प्रत्येक लहर कहने लगी, तूने द्वार बन्द करने के लिए भी क्यों उसे आंखो की ओट होने दिया?

एकाएक मुझे ध्यान आया, वे चोरी से बाहर तो नही निकल गए ? मैं दौड़कर किवाड़ पर गई, उसे झटक-झटककर खींचने लगी ।

वे खुले नहीं ।

मैंने देखा ।

मैं उन्हें बन्दी करना चाहती थी । नहीं तो मुझे किवाड़ बन्द करने का ध्यान ही क्यों हुआ ? यह उसीका पुरस्कार था कि मैं बन्दी हूँ ; और इतना ही नहीं, मैं किवाड़ खोलकर उनकी प्रतीक्षा भी नहीं कर सकती !

मैं लौटकर आसन के पास आकर, उसपर सिर टेककर बैठ गई ।

इसलिए नहीं कि मुझ पर न्याय हुआ, इसलिए नहीं कि वे चले गए । इसलिए कि मैं दोषी थी, इसलिए कि उनका चला जाना उचित था ।

मैं समझी थी, देवता की पूजा से मन्दिर की सफलता है । मै नहीं जानती थी कि देवता की स्थापना ही पर्य्याप्त है ।

मैं रोने लगी ।

मैंने जाना, मेरा सिर आसन पर टिके हुए उन्हींके पैरों पर है । मेरे आँसू उन्हीं-के पैरों की धूल धो रहे थे ।

प्रकाश की एक प्रखर किरण से चौंधियाई हुई मेरी आँखों ने देखा, द्वार खुला है ।

एकायन

१.

सखि ! आगये नीम को बौर !
हुआ चित्रकर्मा वसन्त अवनी-तल पर सिरमौर।
आज नीम की कटुता से भी लगा टपकने मादक मधु-रस !
क्यों न फड़क फिर उठे तड़पती विह्वलता से मेरी नस-नस !

सखि ! आ गये नीम को बौर !
प्रणय-केलि का आयोजन सब करते हैं सब ठौर'—
कठिन यत्न से इसी तथ्य के प्रति मैं नयन मूँद लेती हूँ—
किन्तु जगाता पड़कुलिया का स्वर कह एकाएक, 'सखी तू ?'

सखि ! आगये नीम को बौर !
प्रिय के आगम की कब तक है बाट जोहनी और ?
फैलाए पाँवड़े सिरिस ने बुन-बुनकर सौरभ के जाल—
और पलास आरती लेने लिए खड़े हैं दीपक-थाल !

सखि ! आगये नीम को बौर !

२.

पथ पर निर्झर-रूप बहे।

प्रलयंकर पीड़ाएँ बोलीं,
'तेरी प्रणय-क्रियाएँ हो लीं।'
किस उत्सर्ग-भरे सुख से मैंने उनके आघात सहे!

मैं ही नहीं, अखिल जग ही तो,
रहा देखता 'उसे', स्तिमित हो!
सृष्टि विवश बह गई वहाँ तो गति-रोधन की कौन कहे!

प्रणय? प्राण तो मरकर जागे!
क्षण में लुटकर 'उस' के आगे।
अनुभूति-द्युति-अनुगम-इच्छुक गिरते-पड़ते प्राण रहे!

पथ पर निर्झर-रूप बहे!

३.

मैंने तुमसे कभी कुछ नहीं माँगा।

किन्तु, जब मधु-सन्ध्या के धुँधलके में मैं पश्चिमीय आकाश को देखती बैठी होती हूँ, जब स्निग्ध-तप्त समीर नीबू के सौरभ-भार से झूमता हुआ मुझे छू जाता है, तब मैं अपने भीतर एक रिक्त पाती हूँ और अनुभव करती हूँ कि तुमने मुझे प्रेम से वंचित रखा है।

मैंने तुम्हें कभी कुछ नहीं दिया।

किन्तु, जब उस घोर नीरव दुपहरी में मैं आकाश-समुद्र की उड़ती हुई छिन्न बादल-फेन देखती हूँ, और बुलबुल सहसा एकाकी पीड़ा के स्वर में सिसक उठती है, तब मैं जान जाती हूँ कि मेरा हृदय अब मेरा नहीं रहा है।

४.

मधु, मञ्जरि, अलि, पिक-रव, सुमन, समीर—
नव-वसन्त क्या जाने मेरी पीर!

प्रियतम क्यों आते हैं मधु को फूल,
जब तेरे बिन मेरा जीवन धूल?

५.

करुणे! तू खड़ी-खड़ी क्या सुनती!

उस निर्झरिणी की कल-धारा
को बाँधे क्या कूल-किनारा!
देव-गिरा के मुक्तक-दाने

खड़ी रहेगी कब तक गुनती?

अखिल जगत् की स्तब्ध अञ्जली
से पावन पीड़ा बह निकली !
तू मुग्धा, हतसंज्ञ करों से
उन फूलों से क्या है चुनती !

पाएगी क्या ! स्वयं अकिञ्चन,
दे बिखेर निज उर का रोदन !
बुझ जायेगी वह द्युति तो तू
खड़ी ही रहेगी कर धुनती !
करुणे ! तू खड़ी-खड़ी क्या सुनती !

६.

पुजारिन कैसी हूँ मैं नाथ ?
झुका जाता लज्जा से माथ !

छिपे आई हूँ मन्दिर-द्वार
छिपे ही भीतर किया प्रवेश ।
किन्तु कैसे लूँ वदन निहार—
छिपे कैसे हो पूजा शेष !

दया से आँख मूँद लो देव !
नहीं माँगूँगी मैं वरदान,
तुम्हें अनदेखे देकर भेंट—
तिमिर में हूँगी अन्तर्धान ।

ध्यान मत दो तुम मेरी ओर—
न पूछो क्या लाई हूँ साथ !
गान से भरा हुआ यह हृदय—
अर्घ्य को चिर-तत्पर ये हाथ !
पुजारिन कैसी हूँ मैं नाथ !

७.

टूट गए सब कृत्रिम बन्धन !
नदी नाँघ कूलों की सीमा,
अर्णव-ऊर्मि हुई, गति-भीमा ;
अनुल्लंघ्य, यद्यपि अति-धीमा
है तुझको मेरा आवाहन !
टूट गए सब कृत्रिम बन्धन !
छिन्न हुआ आचार-नियन्त्रण—
कैसे बँधे प्रणय-आक्रन्दन ?
दृष्टि-वशीकृत उर का स्पन्दन
तुझे मानता है जीवन-धन !
टूट गए सब कृत्रिम बन्धन !
देय ? स्वयं ही हूँ मैं दाता !
फिर तेरा संकेत बुलाता !
बिना लुटाए कोई पाता ?
लो ! देती हूँ अपना जीवन !
टूट गए सब कृत्रिम बन्धन !

८.

जब मैं कोई उपहार लेकर तेरे आगे उपस्थित होती हूँ, तब मेरे प्राण इस भावना से भर-भर आते हैं कि वह तेरे योग्य नहीं है। तब, तुझे कैसे वह भेंट चढ़ाऊँ ?

किन्तु यह मैं भूल जाती हूँ कि अब कभी कोई वस्तु मेरी आँखों में अन्यून और निर्दोष नहीं होगी ; क्योंकि वे आँखें अब मेरी नहीं हैं, उनमें से तो तेरी निरपेक्ष सर्वदर्शी दृष्टि झाँक रही है···

९.

उर-मृग ! बँधता किस बन्धन में !
थकित हुए स्वच्छन्द प्राण क्या
भटक-भटककर घन निर्जन में !
अर्ध-निमीलित हैं क्यों लोचन,
स्थिर क्यों चपल पदों का स्पन्दन ;
किस गुरु-भार दबा सुन्दर तन —
किस आकर्षक सम्मोहन में ?
जग की बिखरी गरिमा रोई !—
तेरी अनुपम छबि क्यों खोई ?
निरुपम ! सखा न पाया कोई
उस अबाध सुन्दर कानन में ?
ओ चिर-बन्दी स्वतन्त्रता के,
अति परिचय से ही उकताके,
स्वेच्छा ही से उसे लुटाके,
उन्मुख किधर, विकल किस क्षण में !
उर-मृग ! बँधता किस बन्धन में !

१०.

कहीं किसी ने गाया :
'मैं तेरा हूँ—तू मेरा है
कैसा यह प्रेम घनेरा है !'
मेरा मन भर आया ···

प्रियतम, कभी तुम्हारे मुख से
ये ही शब्द सुने थे मैंने—
अनजाने में मन के धागे
से ये बेध गुने थे मैंने।
आज चीर परदा अतीत का
यही वाक्य तारे-सा चमका :
'मैं तेरा हूँ—तू मेरा है
कैसा यह प्रेम घनेरा है !'

जाने किस विस्मृति के क्षण में,
किस सुकृती के आकर्षण में,
याकि देव के चरण-स्तवन में,
प्राण, तुम्हारे मुख-पाटल से
हिमकण-जैसे कोमल
ज्योत्स्ना जैसे चञ्चल
परिमल से वे शब्द-झरे थे !
'मैं तेरा हूँ—तू मेरा है,
कैसा यह प्रेम घनेरा है !'

मेरे इस लम्बे जीवन में
दो स्मृतियाँ हैं, प्राण, तुम्हारी :
उनसे पहले, उनसे आगे
एक निविड़ रजनी है सारी !

—एक, जब कि पहले पहले ही
सहसा चौंक मुझे लखते ही,
मानो बुझकर, मानो जलकर,
अपने ही में सिमट-सँभलकर
बैठ रहे थे तुम, नीरव, नत-मस्तक!
मैं—हाँ मैं, भी बोल नहीं पाई थी कब तक!
—और दूसरी, जब मैंने कौशल से
छिपे-छिपे आ निकट तुम्हारे, छल से
वे दो वाक्य सुने थे, जाने किसके प्रति उच्चारित
किन्तु जिन्हें सुन मेरा कण-कण हुआ कण्टकित, पुलकित!
'मैं तेरा हूँ—तू मेरा है
कैसा यह प्रेम घनेरा है!'
आज चीर परदा अतीत का;
वही वाक्य तारे-सा चमका;
कहीं किसी ने गाया:
'मैं तेरा हूँ—तू मेरा है,
कैसा यह प्रेम घनेरा है!'
मेरा मन भर आया .....

११.

घन-गर्जन सुन नाचे मत्त मयूर—
प्रियतम! तुम हो मुझसे कितनी दूर!
'कदली, कदम, पिकाकुल कल-सरि-कूल'—
निर्मम! कभी सकूँगी तुमको भूल?

१२.

बहुत अब आँखें रो लीं !
नामहीन - या प्रियतम ?—पीड़ा की क्रीड़ाएँ हो लीं !

काँपी दूर उषा की आभा, कमल-कली में गौरव जागा—
'जीती हूँ !' अनुभूति-विकल हो मुकुलित पलकें खोलीं !

फूट पड़ा नभ का अन्तस्तल, बिखरी विश्व-हृदय की हलचल ;
'रोते क्यों ? जी तो लो !' यों अरुणाली किरणें बोलीं !

मेरा सुरभा तनु मदिर-लाल, कट गिरा भयंकर काल-जाल,
प्रियतम ! रजनी के विष-प्याले में क्या औषध घोलीं ?

वह निशि का कृत्रिम पागलपन, प्रणय-मधुर है यह प्रातस्तन,
जीवन-मधु के ओसकणों से हमने आँखें धो लीं !

सुरभित अनिल-हिलोरें डोलीं, चौंकीं अभिलाषाएँ भोलीं,
उर की अमर, चिरन्तन प्यासें बहुत देर अब सो लीं !

बहुत अब आँखें रो लीं !
प्रियतम ! चिर-प्रणयी ! अब पीड़ा की क्रीड़ाएँ हो लीं !

१३.

मैं अपने पैरों के किंकिण-नूपुर खोलकर तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ।

तुम्हारे समीप आकर मैंने अपनी लौट जाने की सामर्थ्य का त्याग कर दिया है।

मैं अपनी भुजाओं से वलयादि भूषण उतारकर तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ।

तुम्हारे पार्श्व में खड़ी होकर मैंने अपनी सारी क्षमताएँ तुम्हारी सेवा में समर्पित कर दी हैं।

मैं अपनी कटि की मणि-मेखला अलग करके तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ।

तुम्हारे आश्रय की छाया में मैंने अपनी सब रक्षाएँ तुम्हारे विश्वास के आगे लुटा दी हैं।

मैं अपने वक्ष से यह हार निकालकर तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ।

तुम्हारे तेज के अनुगत होकर मैंने अपने हृदय की घनीभूत ज्वाला तुम्हें उत्सर्ग कर दी है।

मैं अपने शीश का यह एकमात्र कवरी-कुसुम निकालकर तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ।

तुम्हारी होकर मैंने अपने अन्तिम दुर्ग का द्वार भी तुम्हारे लिए खोल दिया है— अपना अभिमान तुम्हारे पथ में बिखरा दिया है।

इस प्रकार, अपना सब वैभव दूर कर, अपने प्राणों की अत्यन्त अकिञ्चनता में, मैं अपने-आपको तुम्हें देती हूँ।

१४.

विजयी!

मै इसका प्रतिदान नहीं माँगती।

यह भी नहीं कि तुम इन्हें ग्रहण ही करो।

भेंट का साफल्य उसे दे देने में ही है, उसकी स्वीकृति में नहीं। तुम निःशङ्क होकर इन्हें ठुकराओ और अपने विजय पथ पर बढ़े चले जाओ!

विजयी!

१५.

किन्तु विजयी ! यदि तुम बिना माँगे ही, स्वेच्छा से अपने अन्तःकरण के छलकते हुए सम्पूर्णत्व से विवश होकर, अपने विजय-पथ पर रुककर कुछ दे दोगे तो···

तो तुम देखोगे, तुम्हारा विजय पथ समाप्त हो गया है, तुम्हारी विजय-यात्रा पूरी हो गई है, तुम अपने विश्राम-स्थल पर पहुँच गये हो।

मेरे प्रेम में !

१६.

तुम चिर-अखण्ड आलोक !

तुम खर-निदाघ-ज्वाल की ऊर्ध्वंग तप्त पुकार,
तुम सघन-पावस-व्योम से उल्लास धारासार,
तुम शीत के विच्छिन्न धूमिल कम्पमय ससार—
तुम मधु-निशा के विपुल पुलकित प्राण-रस-संचार।

तुम सम-वयस सहचर, तुम्हें बाँधे जगत का भार,
पर सह-पथिक-आदिम अनादि तुम्हीं अपरिमित प्यार।
तुम सकल जीवन की तृषा, तुम हूक एक सदेह—
तुम स्वाति-से चल-तरल किन्तु सदा अचंचल स्नेह।

तुम चिर-अखण्ड आलोक।

१७.

मुझे जान पड़ता है, मैं चोर हूँ।

जब कभी पथ पर जाते हुए तुम्हारे अदृश्य चरणों की चाप मैं सुन लेती हूँ, और एक अकथ्य भाव से भर उठती हूँ जिसे तुम नहीं जानते, तभी मुझे जान पड़ता है, मैं चोर हूँ।

जब कभी अनजाने में तुम्हारे अपूर्व सौन्दर्य की एक झांकी मिल जाती है, और मैं उसे देखते-देखते संसार के प्रति अन्धी हो जाती हूँ, तभी मुझे जान पड़ता है, मैं चोर हूँ।

प्रियतम! इस जीवन में और इससे पूर्व हज़ार बार मैंने अपना जीवन तुम्हें अर्पण किया है, फिर भी मुझे जान पड़ता है, मैं चोर हूँ।

१८.

मत पूछो, शब्द नहीं कह सकते!

स्वरगत यदि हो मेरा मौन, तुम्हारे प्राण नहीं सह सकते!

देखो, शिरा-शिरा है सिहरी—
बहा ले चली अनुभव-लहरी—
अन्तर्मुख कर सब संज्ञाएँ, तुम्हीं क्यों न उसमें बह सकते।

छूकर ही क्या जाता जाना
दो प्राणों का ताना-बाना?
नीरवता का स्वर-स्वर सुनते, मौन नहीं क्या तुम रह सकते?

मत पूछो, शब्द नहीं कह सकते!

१९.

मैं गाती हूँ, पर गीतों के
भाव जगानेवाला तू,
मैं गति हूँ, पर मेरी गति में
जीवन लानेवाला तू!

मैं वीणा हूँ—या हूँ उसके
टूटे तारों की वाणी—
उससे सम्मोहन, संजीवन
ध्वनि उपजानेवाला तू!

मैं आरती किन्तु प्राणों के
मंगल-दीप जलाता तू,
मैं बहुरंगों की बिछलन, पर
उससे चित्र बनाता तू!

तुहिन-बिन्दु मैं किन्तु किरण तू
उसको चमकानेवाली—
मैं प्रेरण, तू जीवनदाता,
मैं प्रतिमा निर्माता तू!

२०.

प्राण अगर निर्झर-से होते
पृथ्वी-सा यह मेरा जीवन—
तू होता सुदूर वारिधि-सा
तेरी स्मृति लहरों की गर्जन ;

प्रणय ! अंक तेरे में खोने
मैं युग-युग बहती ही बहती,
अथक स्वरों से, अनगिन दिन तक
वही बात बस कहती रहती !

हा, विडम्बना ! हो निर्वाक्
नहीं जो कहते-कहते थकती—
अब वाणी पाकर भी प्रणय !
नहीं तुझसे ही हूँ कह सकती !

मुझमें युग-युग हँसते तेरी
विपुला आभा के लघु जलकण
प्राण अगर निर्झर-से होते
पृथ्वी-सा यह मेरा जीवन !

२१.

मेरी इस जीर्ण कुटीर में—जिसमें वर्षा, वायु, निदाघ, शीत, वसन्त की असंख्य सुरभियों और जीवन की असंख्य पीड़ाओं, प्रत्येक ने अपने-अपने सुभीते के लिए असंख्य प्रवेश-मार्ग बना रखे हैं – द्वार एक ही है ।

यह वह द्वार है जिसकी आड़ में खड़े होकर मैंने पहले-पहल तुम्हें देखा था, या एक मात्र बार देखा था, क्योंकि एक बार तुम्हें देखकर इन आँखों ने तुम्हारी छवि को ओझल कब होने दिया ?

एक दिन, मैं उसी द्वार के सहारे मूक खड़ी थी । संध्या थी, किन्तु ऐसी मेघाच्छन्न कि उसमें न विविध रंगों का विन्यास था, न पक्षियों का आकुल कलरव, न मेरे प्राणों में ही वह भव्य, विस्मित लालसा और आशंका के सम्मिलन से कम्पाय-

मान प्रतीक्षा थी जिससे फिर मेरा चिर-परिचय हो गया . मैं देख रही थी पथ की ओर ; तभी तुम उस पर से होकर जा रहे थे । तुमने मुझे देखा—तुमने यह देखा कि मैं वहाँ मूक खड़ी तुम्हें निहार रही हूँ ।

तुम्हें किसने कहा था कि तुम उसी प्रकार निरीह उपेक्षा में मत चले जाओ, किसने कहा था कि मेरी ओर न देखकर भी मेरी उत्सुकता को जानकर, मानो उसी के बराबर उठ आओ, उसे स्वीकार कर लो और ले जाओ, कि मैं खड़ी रह जाऊँ — पूर्ववत् किन्तु अपूर्व, पूर्ण किन्तु लुटी हुई, सार्थक किन्तु व्यर्थ !

तुम चले गये । उसी दिन के बाद, जाने कितनी वर्षाएँ आईं, अभिसार की सूनी रातें लिये, कितनी आँधियाँ बहीं तृष्णाओं की धूल उड़ाती हुई ; कितने वसन्त आये सौरभ-भार लिये ; कितने जीवन-अनुभव आये अकथ पीड़ाएँ सँभाले ; और प्रत्येक ने अपने-अपने लिए असंख्य मार्ग बना लिये । किन्तु मैं जानती हूँ, उस दिन से मेरे छिन्न-भिन्न जीर्ण कुटीर में एक ही द्वार है, जिसकी आड़ से मैंने तुम्हें देखा था, देखती हूँ और देखती रहूँगी ।

२२.

शशि जब जाकर फिर आए —
सरसी तब शून्य पड़ी थी !
सुख से रोमाञ्चित होती
कुमुदनी कहीं न खड़ी थी ।

शशि मन में हँसकर बोले—
'मुग्धा से परिणत होगी ?
सरसी में शीश छिपाकर
मुझसे क्या मान करोगी ?'

ओ दर्प-मूढ़ शशि ! सोचो —
मानिनि क्या मान छिपाती ?
या उसमें आवृत होकर
अधिकाधिक सम्मुख आती !

वह छिपी लिए यह इच्छा —
भूला सुख पुनः जगा ले —
तेरा ही शीतल चञ्चल
कर उसको दृढ़ निकाले ।

२३

गंगा-कूल सिराने ओ लघु दीप -
मूक दूत से जाओ सिन्धु-समीप !

ढुलक, ढुलक ! नयनों से आँसू-धार !
कहाँ भाग्य ले उनके पाँव पखार !

२४.

पीठिका में शिव-प्रतिमा की भाँति मेरे हृदय को परिधि में तुम्हारा अटल आसन है ।

मैं स्वयं एक निरर्थक आकार हूँ, किन्तु तुम्हारे स्पर्श से मैं पूज्य हो जाती हूँ क्योंकि तुम्हारे चरणों का अमृत मेरे शरीर में सञ्चारित होता है ।

२५.

पथ में आँखें आज बिछीं
प्रियदर्शन ! तेरा दर्शन पाके,
तोड़ बाँध अस्तित्व मात्र के
आज प्राण बाहर हैं झाँके ;

पर मानस के तल में जाग्रति-
स्मृति यह तड़प-तड़प कहती है—
प्रेयस ! मन के किरण-कर तुझे
घेरे ही तो रहे सदा के !

२६.

आओ, इस अजस्र निर्झर के तट पर
प्रिय, क्षण-भर हम नीरव
रहकर इसके स्वर में लय कर डालें
अपने प्राणों का यह अविरल रौरव !

प्रिय ! उसकी अजस्र गति क्या कहती है ?
'शक्ति ओ अनन्त ! ओ अगाध !'
प्राणों की स्पन्दन-गति उसके साथ-साथ रहती है—
'मेरा प्रोज्ज्वल क्रन्दन हो अबाध !'

प्रिय, आओ इसकी सित फेनिल स्मित के नीचे
तप्त किन्तु कम्पन-श्लथ हाथ मिलाकर
शोणित के प्रवाह में जीवन का शैथिल्य भुलाकर

किसी अनिर्वच, सुख से आँखें मींचे
हम खो जावें, वैयक्तिक पार्थक्य मिटाकर !

ग्रथित अँगुलियाँ, कर भी मिले परस्पर—
प्रिय, हम बैठ रहें इस तट पर !
और अजस्र सदा यह निर्झर
गाता जावे, गाता जावे, चिर-एकस्वर !

× × ×

पर, एकस्वर क्यों ? देखो तो, उड़ते फेनिल
रजतकणों में बहुरंगों का नर्त्तन !
क्यों न हमारा प्रणय रहेगा स्वप्निल

छायाओं का शुभ्र चिरन्तन दर्पण !
इन सब सन्देहों को आज भुला दो !
क्षण की अजर अमरता में बिखरा दो !
उर में लिए एक ललकार, सुला दो,
चिर जीवन की ओछी नश्वरताएँ !
सब जाएँ, बह जाएँ, सब बह जाएँ !

वह अजस्र बहता है निर्झर !
आओ, अञ्जलि-बद्ध खड़े हम शीश नवा लें !
उठे कि सोए प्राणों में पीड़ा का मर्मर—
हम अपना-अपना सब कुछ दे डालें—
मैं तुमको, तुम मुझे, परस्पर पा लें !
मूक हो, वह लय गा लें—
जो अजस्र बहुरंगमयी, जैसे यह निर्झर—
यह अजस्र जो बहता निर्झर !

२७.

प्रियतम ! देखो ! नदी समुद्र से मिलने के लिए किस सुदूर पर्वत के आश्रय से, किन उच्चतम पर्वत-शृंगों को ठुकराकर, किस-किस पथ पर भटकती हुई, दौड़ी हुई आई है !

समुद्र से मिल जाने के पहले उसने अपनी चिर-सञ्चित स्मृतियाँ, अपने अलंकार-आभूषण, अपना सर्वस्व, अलग करके एक ओर रख दिया है, जहाँ वह एक परित्यक्त केंचुल-सा मलिन पड़ा हुआ है ।

और, प्रियतम ! इतना ही नहीं, वह देखो, नदी ने यद्यपि कुछ दूर तक समुद्र को रँग दिया है अवश्य, तथापि अपने मिलन में उसने अपना स्वभाव भी उत्सर्ग कर दिया है, वह अपने प्रणयी के साथ लवण और अग्राह्य हो गई है !

प्रियतम ! देखो···

२८.

मैं अमरत्व भला क्यों माग़ूँ ?

प्रियतम, यदि नितप्रति तेरा ही
स्नेहाग्रह-आतुर कर-कम्पन,
विस्मय से भरकर ही खोले
मेरे अलस-निमीलित लोचन ;

नितप्रति माथे पर तेरा ही
ओस-बिन्दु-सा कोमल चुम्बन
मेरी शिरा-शिरा में जाग्रत
किया करे शोणित का स्पन्दन ;

उस स्वप्निल, सचेत निद्रा से प्रियतम ! मैं कब जागूँ ?
मैं अमरत्व भला कब माँगूँ ?

२९.

प्रियतम ! क्यों यह ढीठ समीरण,
किस अनजाने क्षण में आकर
जाता है बिखरा-बिखराकर
मेरे राग-भरे ओठों का सम्भ्रम नीरव कम्पन ?

प्रियतम ! क्यों यह सौरभ छलिया,
मेरा दीर्घ प्रयास विफल कर
इस अबाध में गल-घुल-मिलकर
समुद परस्पर उलझा जाता मेरी अलकावलियाँ ?

प्रियतम ! क्यों ये हिमकर-तारे
तम से भरकर मेरे लोचन
हरकर उनका अभिव्यञ्जन-धन
मुझे लूट तमसा रजनी में लुट-लुट जाते सारे ?

प्रियतम ! क्यों यह गति जीवन की,
कर अभिभूति अखिल अवनी को
चली लीलने प्रणय-कली को
सृष्टि जीतकर भी रह जाती भूखी मेरे धन की ?

प्रियतम ! मेरी ओछी क्षमता,
प्रेमशक्ति भी पा न बढ़ी क्यों ?
मैं निर्वाक् विमूढ़ खड़ी क्यों ?
अपने को अपनाने में ही विघ्न हुई क्यों ममता !

३०.

मेरे आरती के दीप !
झिपते-झिपते बहते जाओ सिन्धु के समीप !
तुम स्नेह-पात्र उर के मेरे—
मेरी आभा तुमको घेरे !
अपना राग जगत का विस्मृत आँगन जावे लीप !
मेरे आरती के दीप !

हम-तुम किसके पूजा-साधन ?
किसको न्योछावर अपना मन ?
प्रियतम ! अपना जीवन-मन्दिर कौन दूर का द्वीप !
मेरे आरती के दीप !

३१.

मैं-तुम क्या ? बस सखी-सखा !
तुम होओ जीवन के स्वामी, मुझसे पूजा पाओ —
या मैं ही होऊँ देवी जिस पर तुम अर्घ्य चढ़ाओ,
तुम रवि जिसको तुहिन-बिन्दु-सी मैं मिटकर ही जानूँ —
या मैं दीप-शिखा जिस पर तुम जल-जीवन पाओ;
क्यों यह विनिमय जब हम दोनों ने अपना कुछ नहीं रखा ?

मैं-तुम क्या ? बस सखी-सखा !
क्यों तुम दूर रहो जैसे सन्ध्या से सन्ध्या-तारा ?
मैं क्यों बद्ध, अलग, जैसे वारिधि से अलग किनारा ?

हमें बाँधने का साहस क्यों मधुर-नियम भी पाएँ ?
तुम अबाध, मैं भी अबाध, हो अनथक स्नेह हमारा !
प्रिय-प्रेयसी रहकर कब किसने उसका सच्चा रूप लखा !
मैं-तुम क्या ? बस सखी-सखा !

३२.

यह भी क्या बन्धन ही है ?
ध्येय मान जिसको अपनाया
मुक्त-कण्ठ से जिसको गाया
समझा जिसको जय-हुंकार,
पराजय का क्रन्दन ही है ?

अरमानों के दीप्त सितारे
जिसमें प्रतिपल अनगिन बारे
मेरे प्रश्नों का प्रशस्त-पथ
आशाहीन गगन ही है ?

तुझे देख जो अन्तर रोया,
कम्पित विह्वलता में खोया,
अटल मिलन की ज्योति न होकर
पीड़ा का स्पन्दन ही है !
यह भी क्या बन्धन ही है ?

३३.

मेरी पीड़ा मेरी ही है
तुम्हें गीत ही मैं दूँगी—
यदि असह्य हो, क्षण-भर चुप रह
यति में उसे छिपा लूँगी !

३४.

शायद तुम सच ही कहते थे —
वह थी असली प्रेम-परीक्षा !
मेरे गोपनतम अन्तर के
रक्त-कणों से जीवन-दीक्षा !

पीड़ा थी वह, थी जघन्य भी
तुम थे उसके निर्दय दाता !
तब क्यों मन आहत होकर भी
तुम पर रोष नहीं कर पाता ?

तर्क सुझाता घृणा करूँ, पर
यही भाव रहता है घेरे—
तुम इस नयी सृष्टि के स्रष्टा
क्रूर, क्रूर, पर प्रणयी मेरे !

३५.

ओ तू, जिसे आज मैंने सह पथिक लिया है मान,
दे मत कुछ, न माँग तू मुझसे कोई भी वरदान,
लेन-देन ही है क्या इस परमाहुति का सम्मान ?

जहाँ दान है वहाँ कभी टिक सकते हैं अधिकार ?
शब्दों ही में बँध जायेगा आत्माओं का प्यार ?
माँग न अनुमति, आ तू ! सारे खुले पड़े हैं द्वार !

काया-छाया, ज्योति-तिमिर में रहे परस्पर-भाव --
मुझे परस्परता में भी कटु झलक रहा अलगाव—
हम-तुम पहुँचें जहाँ न हों सीमाएँ और दुराव !

ईश्वर बनकर मन्त्र-शक्ति से छू दे मेरा भाल --
दानव होकर चूर-चूर कर दे मेरा कंकाल—
मात्र पुरुष रह बाँध भुजों से मर्माहत कर डाल !

मुझे सिखा दे सुनना केवल तेरा ही निर्देश—
तेरे अभयद कर की छाया में करना उन्मेष,
अपना रहना अपनेपन को देकर तेरा वेश !

३६.

'चक्रवाकवधुके ! आमन्त्रयस्व सहचर । उपस्थिता रजनी !'
गोधूली की अरुणाली अब बढ़ते-बढ़ते हुई घनी,
बधुके, जाने दो सहचर को अब है उपस्थिता रजनी !

दिन में था सुख-साथ, किन्तु अब
अवधि हो गई उसकी शेष —
पीड़ा के गायन में हो
स्वप्नों का कम्पित नयन-निमेष !
रजनी है अवसान ; समाप्त प्रणय है,
पर देखो, सब ओर —
विरह-व्यथा की है विह्वल रक्तिम
रागिनी बनी अवनी !
बधुके, जाने दो सहचर को अब है उपस्थिता रजनी !

३७.

मैंने देखा सान्ध्य क्षितिज को
चीर, गगन में छाए तुम ;
मैंने देखा, खेतों में से
धीरे-धीरे आए तुम।

शशि टटोलते आए किरण
करों से रजनी को तम में—
देखा, तुम समीप आकर भी
रुके निमिष-भर संभ्रम में।

देखा, देख मुझे तुमने
मानो सजीवन-घूँट पिया—
देखा, शब्द-विवश तुमने
मुझको बाँहों में बाँध लिया।

जाना, आँखें खिंचीं, मिलीं,
मानो कर अधरों को निर्देश—
जाना, प्राण-प्राण का अन्तर
हुआ सदा के लिए अशेष।

पर — इससे आगे — असह्य
स्पन्दन में मन जाता है भूल
स्मृति भी धीरे से कहती है,
फूल, फूल, बस अगणित कूल!

३८.

प्रदोषा की शान्त और नीरव भव्यता से मुग्ध होकर दार्शनिक बोला, 'ईश्वर कैसा सर्वज्ञ है! दिवस के तुमुल और श्रम के बाद कितनी सुखद है यह सन्ध्या-कालीन शान्ति!'

निश्चल और तरल वातावरण को चीरती हुई, दार्शनिक का ध्यान भंग करती हुई, न-जाने कहाँ से आई चक्रवाकी की करुण पुकार, 'प्रियतम, तुम कहाँ हो?'

३९.

अपने तप्त करों में लेकर तेरे दोनों हाथ—
मैं सोचा करती हूँ जाने कहाँ कहाँ की बात!

× × ×

तेरा तरल-मुकुर क्यों निष्प्रभ शिथिल पड़ा रहता है
जब मेरे स्तर-स्तर से ज्वाला का झरना बहता है ?
क्यों, जब मैं ज्वाला में बत्ती-सी बढ़ती हूँ आगे —
अग्नि-शिखा-से तुम ऊपर-ही-ऊपर जाते भागे ?

× × ×

मैं सोचा करती हूँ जाने कहाँ-कहाँ की बात —
अपने तप्त करों में लेकर तेरे दोनों हाथ !

४०.

प्रियतम ! जानते हो, सुधाकर के अस्त होते ही कुमुदिनी क्यों नतमस्तक होकर सो जाती है ?

इसलिए नहीं कि वह प्रणय से थकी होती है।

इसलिए नहीं कि वह वियोग नहीं सह सकती।

इसलिए नहीं कि वह सूर्य्य के प्रखर ताप से कुण्ठित हो जाती है।

प्रियतम ! वह इसलिए है कि वह एक बार फिर सुधाकर की शीतल ज्योत्सना में जागने का सुख अनुभव करना चाहती है, वह चाहती है सुधाकर के कोमल स्पर्श से चौंककर, उठकर, एक अलस, सलज्ज विस्मय से सिमटते हुए भी प्रकट होकर पूछना, 'जीवन, तुम्हीं हो ?'

४१.

प्रियतम मेरे मैं प्रितम को !

आँखें व्यथा कहे देती हैं खुली जा रही स्पन्दित छाती,
अखिल जगत ले आज देख जी-भर मुझ गरीबिनी की थाती
सुन ले, आज बावली आती
गाती अपनी अवश प्रभाती :

प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

बीती रात, प्रात-शिशु को उर से चिपटाए आई ऊषा—
लुटा रही हूँ गली-गली में अपने प्राणों की मंजूषा—
मुझ पगली की बिखरी भूषा—
आज गूदड़ी में मेरी उनकी मणियों की माला चमकी

प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की .

मेरा परिचय ? रजनी मेरी माँ थी, तारे सहचर,
मेरा घर ? जग को ढँप लेनेवाला नंगा अम्बर—
मेरा काम ? सुनाना दर-दर

महिमा उस अपने निर्मम की !
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

मैं पागल हूँ ? हाँ, मैं पागल, ओ समाज धीमान्, सयाने !
तेरी पागलपन की जूठन मैंने बीनी दाने-दाने—
यही दिया मुझको विधना ने,

मैं भिखमंगी इस आलम की !
तू सँभाल ले अपना वैभव अपने बन्द खजाने कर ले,

ओ अश्रद्धा के कुबेर ! निज उर में बोझ घृणा के भर ले—
तेरे पास बहुत है तो तू उसे छिपाकर धर ले—
मुझको क्या देता है धमकी ?
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

मैं दीना हूँ, मेरा धन है प्यार यही तेरा ठुकराया,
किन्तु बटाने को उतना ही मेरा मन व्याकुल हो आया—
एक अकेली ज्योति-किरण से पुलक उठी है मेरी काया,
मैं क्यों मानूँ सत्ता तम की ?
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

तू इन आँखों के आगे बस स्थिर रह अरे अनोखे मेरे,
खड्गधार की राह बनाकर पास आ रही हूँ मैं तेरे,
मुझको कैसे घाट-बसेरे ?
मेरी खेल बड़े जोखम की !
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

बन में रात पपीहे बोले , घन में रात दामिनी दमकी—
नभ में प्रात छा गई स्मित उस अभिसारी मेरे निरुपम की—
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

४२.

शशि रजनी से कहता है
'प्रेयसि, बोलो क्या जाऊँ ?'
कहता पतंग से दीपक
'यह ज्वाला कहो बुझाऊँ ?'

तुम मुझसे पूछ रहे हो—
'यह प्रणय-पाश अब खोलूँ ?'
इसको उदारता समझूँ—
या वक्ष पीटकर रो लूँ

४३.

मृत्यु अन्त है सब कुछ ही का
फिर क्यों धींगा-धींगी, देरी ?
मुझे चले ही जाना है तो
बिदा मौन ही हो फिर मेरी !

होना ही है यह, तो प्रियतम !
अपना निर्णय शीघ्र सुना दो—
नयन मूँद लूँ मैं तब तक तुम
रस्सी काटो, नाव बहा दो !

४४.

प्रियतम, एक बार और, एक क्षण भर के लिए और !

मुझे अपनी ओर खींचकर, अपनी समर्थ भुजाओं से अपने विश्वास-भरे हृदय की ओर खींचकर, संसार के प्रकाश से मुझे छिपाकर, एक बार और खो जाने दो, एक क्षण-भर के लिए और समझने दो कि वह आशंका निर्मूल है, मिथ्या है !

४५.

जाना ही है तुम्हें, चले तब जाना,
पर प्रिय ! इतनी दया दिखाना,
मुझसे मत कुछ कहकर जाना !

सेवक होवे बाध्य कि अनुमति लेकर जावे,
और देवता भी भक्तों के प्रति यह शिष्टाचार दिखावे ;
पर तुम, प्राण-सखा तुम ! मेरे जीवन-खेलों के चिर-सहचर !
क्यों उसका सुख नष्ट करोगे पहले ही से बिदा माँगकर !

किसी एक क्षण तक अपना वह खेल अनवरत होता जावे ;
मैं यह समझी रहूँ कि जैसे
भूत युगों में तुम संगी थे, वैसे,
साथ रहेगा आगामी भी युगों-युगों तक ।
फिर, क्षण-भर में तुम अदृश्य, मैं अपलक,
पीड़ा-विस्मय में लखती रह जाऊँ,
कहाँ रहे तुम ; और न उत्तर पाऊँ —
एक थपेड़े में बुझ जावे
जीवन-दीपक का आह्लाद —
किन्तु बिदा के क्षण के क्षण-भर बाद !

मेरे जीवन के स्मित ! तुमको रोकर बिदा न दूँगी—
आँखों से ओझल होने तक कहती यही रहूँगी ;
'आओ प्रियतम ! आओ प्रियतम !
पवन-तरी है मेरा जीवन,
तुम उसके सौरभ-नाविक बन,
दशों दिशा छा जाओ, प्रियतम !'

जाना ही है तुम्हें, चले तब जाना,
पर प्रिय ! इतनी दया दिखाना
मुझसे मत कुछ कहकर जाना !

४६.

मानस के तल के नीचे
है नील अतल लहराता
तल पर लख अपनी छाया
तू लौट-लौट क्यों जाता !
है काम मुकुर का केवल
करना मुख छवि प्रतिबिम्बित-
क्या इसी मात्र से उसकी
है यथार्थता परिशंकित ?

४७.

मैं समुद्र-तट पर उतराती एक सीपी हूँ, और तुम आकाश में मँड़राते हुए तरल मेघ ।

तुम अपनी निरपेक्ष दानशीलता में सर्वत्र जो जल बरसा देते हो, उसकी एक ही बूँद में पाती हूँ, किन्तु मेरे हृदय में स्थान पाकर वही मोती हो जाती है ।

मैं समुद्र-तट पर उतराती एक सीपी हूँ, और तुम आकाश में मँड़राते हुए

तरल मेघ ।

हमारे जीवन एक दूसरे से एक अपरिहार्य्य बन्धन में बँधे हुए हैं जिसकी प्रेरणा है, तुम्हारी शक्ति और मेरी व्यथा से एक अमूल्य रत्न की उत्पत्ति करना ; किन्तु फिर भी तुम मुझसे कितनी दूर हो, कितने स्वच्छन्द, और मैं इस विशाल समुद्र से कैसी घिरी हुई, कितनी क्षुद्र !

४८.

जब तुम मेरी ओर अपनी अपलक आँखों से एक अद्भुत जिज्ञासा-भरी दृष्टि से देखते हो, जिसमें संसार-भर की कोई माँग है, तब प्राणों की एक कम्पन के साथ मैं बदल जाती हूँ, मुझे एक साथ ही ज्ञान होता है कि मैं ही अखिल सृष्टि हूँ, और क्षुद्र हूँ, कुछ नहीं हूँ ।

प्रियतम ! प्रेम हमें उठाता है, या गिराता है, या उठने और गिरने मात्र की तुच्छ तुलनाओं से परे कहीं फेंक देता है···

४९.

जितनी बार मैं नभ में कोई तारा टूटकर गिरता हुआ देखती हूँ, उतनी बार मेरा अन्तर किसी पूर्व-निर्देश-हीन प्रार्थना से कह उठता है, 'मुझे उससे अनन्त संयोग प्राप्त हो जाय !'

कहते हैं कि तारे के टूटने और लुप्त हो जाने के अन्तरावकाश में उत्पन्न और व्यक्त अभिलाषा पूर्ण हो जाती है ।

पर हमारा मिलन तो पहले ही अभिन्न है, तुम और मैं तो पहले ही अनन्त संयोग में एक होकर खो चुके हैं ; तब यह शकुन कैसे फलित होगा, तब यह अभिलाषा कैसे पूर्ण होगी—जो अलग ही नहीं हैं वे एक कैसे होंगे ?

पर फिर इस अभिलाषा का उद्भव क्यों होता है ?

मैं नहीं जानती ! मैं नहीं जानती !

केवल, जितनी बार मैं नभ में कोई तारा टूटकर गिरता हुआ देखती हूँ, उतनी ही बार मेरा अन्तर किसी पूर्व-निर्देश-हीन प्रार्थना से कह उठता है, 'मुझे उससे अनन्त संयोग प्राप्त हो जाय !'

५०.

१

'रवि गए,' जान जब निशि ने
घूँघट से बाहर देखा ;
शशि के मुरझाये मुख पर
पाई विषाद की रेखा ।

प्रियतम से मिलने सत्वर
सम्भ्रान्त चली वह आई ।
उसको निज अङ्क लगाकर
शशि ने जीवन-गति पाई ।

'रविरोष अभी बाकी है',
'मिलनोचित समय नहीं है',
'नीलाम्बर व्यस्त हुआ है,'
'भूषण-लड़ियाँ बिखरी हैं',

कब सोचा यह सब निशि ने ?
जब उसकी स्त्री आत्मा का
आह्वान किया प्रकृति ने ?

२

उल्लस शशि की क्रीड़ा में,
बीतीं कुछ विह्वल घड़ियाँ।
(कब तक न बनी ही जातीं
उस प्रणय-लड़ी की कड़ियाँ।)
रवि के आने पर शशि ने
ली बिदा निशा से सत्वर।
चल दिया लिए प्राणों में
निज सफल प्रेम का निर्झर !
'निशि को व्यक्तित्व नहीं है',
'मैं ही हूँ उसका जीवन',
'ये ओस-बिन्दु हैं उसके
बिखरे, मूर्च्छित आँसू-कन,'
क्या देखा यह सब शशि ने ?
जब उसके पुरुष-प्रणय को
साफल्य दिया प्रकृति ने ?

५१.

जब मैं वाताहत झरते फूल-सरीखी उसके पैरों में जा गिरी; तब उसने निर्मम स्वर में पूछा —

जिस देवता के वरदान का भार सहने की क्षमता तुझमें नहीं थी, उसे तूने अपनी आराधना द्वारा क्यों प्रसन्न किया ?

५२.

रोते-रोते कण्ठरोध जब है हो जाता,
उस विषण्ण नीरव क्षण में ही
कहती गिरा तुम्हारी, स्नेही
शान्त भाव से—
'किस सुख में भूली हो, उन्मन ?'
—जिससे तड़प उठा है जीवन,
निर्मम ! वही भुलाता !

गाते-गाते हो जाता स्वर-भंग कभी तो
उसकी कम्पन को इंगित कर,
मादक आँखों में क्रीड़ा भर
तुम कहते हो—
'गायन इतना मीठा क्यों है ?'
—उसमें विकल व्यथा-पुट जो है,
प्रियतम ! हाय, तभी तो !

५३.

मैं तुम्हारे प्रेम को उस प्रोज्ज्वल उड़ान को नहीं पा सकती, पर उसे स्थायित्व देनेवाली मैं ही तो हूँ !

तुम जलते हुए अंगारे हो, मैं उस पर छाई हुई राख का पुञ्ज। तुम धधकते हो, मैं उस भीषण ज्वाला की दीप्ति नहीं पाती; पर तुम अपनी अन्तर्ज्वाला को बिखराकर शान्त हो जाते हो, मैं तब भी तो अपनी अभ्यस्त स्निग्ध गर्मी लिए तुम्हें आवृत किए रहती हूँ...

तुम मेरे अस्तित्व के भी प्राण हो, मैं तुम्हारी शक्ति की संरक्षिका मात्र।

यह मेरा स्वार्थ नहीं है कि मैं तुम्हारी प्रलय-क्षम शक्ति को फूटने नहीं देती, अपने सुख के लिए छिपाए रखती हूँ। क्योंकि देखो, जब-जब भी कृतित्व की आँधी हमारी ओर आती है, तभी मैं अपना अस्तित्व खोकर उड़ जाती हूँ और तुम्हारे प्रोज्ज्वल ताप को और भी दीप्त हो लेने देती हूँ।

५४.

क्यों पूछ-पूछ जाती है
ताक-नयनों की झपकी—
क्या अभी अलक्षित ही हैं
किरणें तेरे दीपक की?

इस जीवन के सागर में
मेरा रस-बिन्दु कहाँ है?
सब ओर चाँदनी छिटकी—
मेरा ही इन्दु कहाँ है?

शशि घन में छिप सकता है—
मेरा शशि नहीं छिपेगा—
पर इस अभिमान-भरोसे
कब तक यह प्राण रहेगा?

'आओगे', इस आशा में
'हो दूर' की छिपी तड़पन
जब स्रोत हुआ हालाहल
कैसी तन्मयता, जीवन

अच्छा होता कि हताशा
अतिशय पूरी हो जाती—
तेरी अनुपस्थिति से ही
मैं अपने प्राण बसाती !

जब विरह पहुँच सीमा पर
आत्यन्तिक हो जाती है—
उसकी अबाधता ही तो
प्रियतम को पा जाती है !

सागर जब छलक-छलककर
भी शून्य अमा पाता है—
तब किस दुस्सह स्पन्दन से
उसका उर भर आता है !

५५.

दूर, नील आकाश के पट पर खचित-से, उस खँड़हर के झरोखे में पड़कुलिया का जोड़ा बैठा है ।

बेरी के वृक्ष पर बैठी हुई चील कठोर किन्तु किसी उग्र अनुभूति-भरी पुकार द्वारा आकाश में उड़ते हुए अपने सहचर को बुला रही है ।

अनभ्र आकाश की विस्तीर्ण हल्की नीलिमा में दुपहरी का प्रकाश विलीन या

व्याप्त होकर एक अदृश्य किन्तु तीखी ज्योति से चमक रहा है।

मैं बिलकुल अकेली हूँ।

फिर भी न-जाने क्यों, मेरे हृदय में वह जिज्ञासु तड़पन नहीं पूछती कि 'प्रियतम, तुम कहाँ हो!' ··

५६.

जाते-जाते कहते हो—
'जीवन, अब धीरज धरना!'
क्यों पहले ही न बताया
मत प्रेम किसीसे करना!

तुम कहते तो मैं सुनती?
मैं आहुति स्वयं बनी थी!
मेरी हतसज्ञ विवशता
में चेतनता कितनी थी!

मेरे धीरज से तुमको
क्या? अब इसको खोने दो,
परिमाण प्रणय के ही में
बस रोने दो, रोने दो!

५७.

जीवन तेरे बिन भी है!

पत्र नहीं, फल-फूल नहीं हैं,
परिमल नहीं पराग कहीं है,
शिशिर-तिमिर में नन्दन-कानन ही अब विजन विपिन भी है!

व्यथा-भार से बोझल पलकें,
अश्रु-तुहिन आँखों से ढलकें,
प्राणों पर तमसा छाई है पर सुनती हूँ दिन भी है !

बहा जा रहा काल निरन्तर,
घड़ी-घड़ी, पल-पल गिन गिनकर
पर वियोग-रजनी की श्वासें दीर्घ नहीं अनगिन भी हैं !

मिलन यहाँ है मिथ्या, माया,
तथ्य लुटी आत्मा ने पाया,
बँधी हुई तो रही सदा से, हाय आज विरहिन भी है !

दीप, लुटा दो अब यह ज्वाला,
ऊषा में भविष्य है काला,
ज्योति काँपती थी सन्ध्या में, प्रात काल मलिन भी है !
जीवन तेरे बिन भी है !

५८.

विस्मृति-विषाक्त हाला भी पिला दो !
प्राण-वीणा मृत्यु-राग में हिला दो !

तम ने चारों ओर घेरा,
उचट गया जब प्यार तेरा ।
टूटा जीवन-दीप मेरा—
कुचल दो इसको, धूल में मिला दो !

मन के सारे तार टूटे,
पीड़ा धारासार फूटे।
पर कैसे यह प्यार छूटे?
इसके छिन्न प्राण को भी जला दो!

प्रणयी का सान्निध्य खोया?
युगों-युगों का स्नेह सोया?
प्राणों का कंकाल रोया—
मर्मान्तिक यह पीड़ा भी सुला दो!

विस्मृति विषाक्त हाला भी पिला दो!
प्राण-वीणा मृत्यु-राग में हिला दो!

५९.

ओ तेरा यह अविकल मर्मर!
ओ पथ-रोधक चट्टानों को भी खण्डित कर देनेवाले!
ओ प्रत्यालोकन के हित भी रुककर साँस न लेनेवाले!
विफल-जगत् का हृदय चीरकर कर्म-तरी के खेनेवाले!

तू हँसता है, या तुझको हँसती है कोई निर्दय नियति,
तू बढ़ता है, या कि तुझे ले बही जा रही जीवन की गति!
ओ अजस्र, ओ पीड़ा-निर्झर!
ओ तेरा यह अविकल मर्मर!

तेरी गति में इन आँखों को पीड़ा ही पीड़ा क्यों दीखी?
तीखेपन के कारण? पर मदिरा भी तो होती है तीखी!

मदिरा में भी चञ्चल बुद्बुद्, मदिरा भी करती है विह्वल;
मदिरा में भी तो कोई सम्मोहन रहता ही है बेकल!

पर—अजस्रता! इस गतिमान चिरन्तनता की
मदिरा की मादकता में होती क्या झाँकी?
कसक अजस्र एकमात्र पीड़ा की!
ओ अजस्र, ओ पीड़ा-निर्झर!
ओ तेरा यह अविकल मर्मर!

कुछ भी हो हम-तुम चिरसंगी इस जगती में
बढ़ते ही बस जानेवाले, द्रुत-गति, धीमे,
विजित, विजेता; गतियुत, परिमित;
आगे बढ़ने को अभिप्रेरित—
अपर नियन्त्रण किन्तु किसीसे बाधित;
तुम, उस अनुल्लंघ्य गति-क्रम से—
मैं, पाषाण-हृदय प्रियतम से!

ओ अजस्र, ओ पीड़ा-निर्झर!
ओ तेरा यह अविकल मर्मर!

प्रणयी निर्झर! आओ, हम दोनों के
प्राणों में पीड़ा-झंझा के झोंके
एक बवण्डर आज उठावें—
बाँध तोड़कर सतत जमावें,
विवश पुकारें जो नभ-भर छा जावें!

एक मूक आह्वान, सदा एकस्वर,
कहता जावे, कहता जावे, निर्झर—
दोनों ही के अन्तरतम की गूढ़ व्यथाएँ—
वे उद्विग्न, अबाध, अगाध, अकथ्य कथाएँ!

६०.

जग में है अगणित दीप जले ।

वे जलते-जलते जाते हैं,
फिर निर्वापित हो जाते हैं,
तब जग उन्हें बहा आता है ;
उसको उनका मोह नहीं है—
'जल-जलकर फिर बुझना ही है,
इस गति से छुटकारा बोलो कौन कहाँ पाता है ?'
कुछ भी हो, पर आज उधर
जग में हैं अगणित दीप जले !

एक खड़ी हूँ मैं भी लेकर जो न कभी आलोकित होगा—
प्यार जगाता है, पीड़ा का जलना भी होगा अँधियारा—
मुझे घेर बहती जाती है एक विषैली धूमिल धारा !
खोना भी, खोकर रोना भी, यह किन पापों का फल भोगा !
किन्तु उधर
जग में हैं अगणित दीप जले !

एक ओर सारी जगती की ज्योतिर्माला—
और इधर, यह पीड़ा - अम्बर, काला !
फिर भी, मैं भी दीपक थामे खड़ी हुई हूँ,
स्मृति की स्पन्दित टीसों ही से जीवित पड़ी हुई हूँ···
और उधर
जग में हैं अगणित दीप जले !

आज, जगत् की सुन्दरता जब छीन ले गया पतझर—
उसे भुलाने वह जाता है ये सब अगणित दीप जलाकर ।

इधर खड़ी मैं सोच रही हूँ—
जिसे भूलना है, उसका ही आश्रय लेकर उसे भुलाना !
मैं ऐसी विफला चेष्टा में निरत नहीं हूँ !

यद्यपि आज
जग में हैं अगणित दीप जले !

पतझर, पतझर पतझर पतझर···
गिरते पत्तों का यह अविकल सरसर,
कहता जाता है—सुन्दरता नश्वर, नश्वर !

मेरे हाथों का यह दीपक, मेरे प्राणों का यह स्पन्दन,
तड़प-तड़पकर करता जाता उसका खण्डन !
गए दिनों में कभी, नहीं जब पात झरे थे,
डार-डार पर जब फूलों के भार भरे थे,
अवनी-भर पर खेल रही थीं यौवन जीवन की छायाएँ—
मृदु अनामिका से मलयानिल
प्रेता भालबिन्दु-सा परिमल,
गले-गले में डाल-डाल जाता सौरभ-मालाएँ !—
गए दिनों में कभी, अपरिचित एक बटोही आया,
उसके निर्मम हाथों मैंने दीप एक बस पाया।

अंक छिपाए, भर-भर स्नेह, लिए यह अभी खड़ी हूँ—
और, पात झरते जाते हैं, और, नहीं वह आया !
और उधर
जग में हैं अगणित दीप जले !

बुझे—अनजले दीपक ! मेरे जीवन की सुन्दरते !
अब अपने संकेत ! नहीं क्यों छूट हाथ से गिरते !
गया बटोही, बीता मधु भी, फूल हो गए स्मृतियाँ—

अब सूखी जीवन-शाखा के पात-पात हैं झरते !
पर जीवन-सर्वस्व ! रही बन मेरे एक सहारे—
जग के दीपक एक-एक निर्वापित होंगे सारे !
वे मरणोन्मुख सफल—और तुम असफल, जीवन-आतुर,
तुम पीड़ा हो, पर अजस्र ; वे सुख हैं पर क्षणभंगुर !
मैं हूँ अन्धकार में पर विश्वास-भरी हूँ रोती—
पीड़ा जाग रही है यद्यपि दीप-शिखा है सोती—
वे सब—विधि से गए छले—
जग में हैं अगणित दीप जले !

६१.

रहने दे इनको निर्जल
ये प्यासी भी जी लेंगी—
युग-युग से स्नेह-ललायित—
पर पीड़ा भी पी लेंगी !

अपनी वेदना मिटा लूँ ?
उनका वरदान अमर है !
जी अपना हलका कर लूँ ?
वह उनकी स्मृति का घर है !

सर्वथा वृथा ही तूने
ओ काल ! इन्हें ललकारा ।
तू तृण-सा बह जाए यदि
फूटे भी आँसू-धारा !

आँखें मधु माँग रही हैं,
पर पीड़ा* भी पी लेंगी ;
रहने दे इनको निर्जल
ये प्यासी भी जी लेंगी !

६२·

नित्य ही सन्ध्या को, कुमुदिनी स्वप्न में देखा करती है कि चन्द्रोदय हो गया है, और वह अभी सोई पड़ी है, और चन्द्र आकर अपने शुभ्र, कोमल, हिम-शीतल ज्योत्स्ना-करों से उसे उठाकर कहते हैं, 'प्रिये, अभी उठी नहीं ?'

इस कल्पना से उसका अलसाया हुआ शरीर सिहर उठता है ।

पर नित्य ही सन्ध्या को, कुमुदिनी निराशा की विवशता से उत्पन्न आशा लेकर अपने हृदय की मधु-मञ्जूषा खोलकर, शशि के आने से पहले ही सत्कार-तत्पर होकर खड़ी हो जाती है ।

जो कल्पना स्वयं अपने विनाश का आधार होती है, वह वास्तविकता के निर्माण में सहायक नहीं होती !

६३

गायक ! रहने दो इनको, ये कातर तार बिचारे
रुद्ध स्वर के ही खिंचाव से टूट रहे हैं सारे !
यदपि नहीं निज व्यथा-कथा रोते-रोते वे थकते—
मींड़ न दो ! आशा की कम्पन तार नहीं सह सकते !

६४.

समीरण के झोंके में फूल हँसते हैं, और खिलकर एकाएक कह देते हैं, 'प्रियतम, अब जाना मत !'

पर मेरी वाणी तुम्हारे आने पर भी स्तब्ध, मूढ़, नीरव ही रह जाती है।

समीरण फूलों को झुलाकर कहता है, 'अब सो जाओ !' और जाते हुए उनके अलस ओठों पर चुम्बन अंकित कर जाता है।

तुम्हारे जाने पर मेरी इच्छा यों ही रह जाती है कि मुझपर कहीं तुम्हारा चिह्न हो जिसे मैं मरते समय भी अभिमान और शान्ति-पूर्वक धारण कर सकूँ !

६५.

क्या खण्डित आशाएं हो
हैं धन अपने जीवन का ?
क्यों टूट नहीं जाता है
धीरज इस कुचले मन का ?

कहते हैं, घटनाओं की
पहले घिरतीं छायाएँ—
क्यों नहीं मिलन-क्षण में ही
फिर मेरा माथा ठनका ?

६६.

आज, विदा !

पीड़ा के दिन बीते जाते—
कभी प्राण जागेंगे, गाते !

याद मुझे भी तब कर लेता प्रियतम ! यदा-कदा !

टूट जायँ इस जग के बन्धन —
एक रहेगा अन्तः स्पन्दन !
स्मृति ही नहीं, बसेंगे मुझमें तेरे प्राण सदा !
पर, आज विदा !

६७.

दीपक के जीवन में कई क्षण ऐसे आते हैं, जब वह, अकारण ही, या किस अदृश्य कारण से, एकाएक अधिक दीप्त हो उठता है, पर वह सदा उसी प्रोज्ज्वलतर दीप्ति से नहीं जल सकता।

प्रेम के जीवन में भी कई ऐसे क्षण आते हैं जब अकस्मात् ही उसका आकर्षण दुर्निवार हो उठता है, पर वह सदा उसी खिंचाव का सहन नहीं कर सकता।

फिर, प्रियतम! हम क्यों चाहते हैं सदा इस ऊर्ध्वगामी ज्वाला की उच्चतम शिखा पर आरूढ़ रहना !

६८.

दोनों पंख काटकर मेरे—
मुझको ला फेंका निर्मोही तूने किस घनघोर अँधेरे
थे अभ्यासी प्राण अनन्त
गगन में विचरण करने के—
गीतों में नभ, नभ में निज
निर्बाध गीत बस भरने के।
किसी विफलता में सब हेरे।

आज तुम्हारी किरण कभी जो
भटकी-सी आ जाती है—
अक्षमता के कारण ही तो
और मुझे तड़पाती है।
रो लेती हूँ आँखें फेरे।

किन्तु तुझे क्या कहूँ कि तूने
ही उड़ना सिखलाया था;
क्षेत्र नहीं है, पर अनुभव—
उपहार तुझी से पाया था।
प्राण ऋणी हैं फिर भी तेरे।
यद्यपि ला फेंका निर्मोही तूने किस घनघोर अँधेरे—
दोनों पंख काटकर मेरे!

६९.

पुरुष! जो मैं दीखती हूँ, वह मैं हूँ नहीं; किन्तु जो मैं हूँ, उसे मत ललकारो। तुम्हें क्या यह विश्वास ही हो गया है कि मुझमें अनुभूति-क्षमता नहीं है?

तुम क्या सचमुच ही मानते हो कि मैं केवल मोम की पुत्तलिका हूँ, कोमल, चिकनी, बाह्य उत्ताप से पिघल सकनेवाली, किन्तु स्वयं तपाने के, भस्म करने के लिए सर्वथा असमर्थ ?

मुझमें भी उत्ताप है, मुझमें भी दीप्ति है, मैं भी एक प्रखर ज्वाला हूँ। पर मैं स्त्री भी हूँ, इसलिए नियमित हूँ ; तुम्हारी सहचरी हूँ, इसलिए तुम्हारी मुखापेक्षी हूँ; तुम्हारी प्रणयिनी हूँ, इसलिए तुम्हारे स्पर्श के आगे विनम्र और कोमल हूँ ।

पुरुष, जो मैं दीखती हूँ, वह मैं हूँ नहीं ; किन्तु जो मैं हूँ, उसे मत ललकारो !

७०.

मैं तुमसे अनेक बार जान-बूझकर झूठ कहती आई हूँ । किन्तु उसके लिए मेरे हृदय में अनुताप नहीं है, क्योंकि मैं नित्य ही आत्म-दमन की घोर यातना में उसका प्रायश्चित्त कर लेती हूँ ।

मैं अपने को एक बार तुम्हें समर्पित कर चुकी हूँ । मैंने अपना अस्तित्व मिटा दिया है । अब जो मैं हूँ वह है केवल तुम्हारी रुचियों, तुम्हारी इच्छाओं, तुम्हारी कामनाओं, तुम्हारी भूख-प्यास, तुम्हारे आदर्श की पूर्ति में निरत होकर अपने को मटियामेट कर देनेवाली मेरी शक्ति, जिसका तुमने वरण किया है ।

इस प्रकार अपने में केवल मात्र तुम्हें प्रतिबिम्बित करने की उत्सर्गपूर्ण चेष्टा में मैं तुमसे अनेक बार जान-बूझकर झूठ कहती आई हूँ, किन्तु उसके लिए मेरे हृदय में अनुताप नहीं है, क्योंकि मैं नित्य ही आत्म-दमन की घोर यातना में उसका प्रायश्चित्त कर लेती हूँ ।

७१.

प्रियतम ! कैसे तुम्हें समझाऊँ कि वह अहंकार नहीं है !

वह आत्म-दमन है, घोर यातना है, किन्तु वह मेरा स्त्रीत्व का अभिमान भी है, मेरे प्राणों की अभिन्नतम पीड़ा जिसके बिना मैं नहीं रह सकती !

७२.

चौंक उठी मैं, मुझे न जाने
क्यों सहसा आभास हुआ—
तेरे स्नेहसिक्त कर ने
मेरी अलकों का छोर हुआ !
कितना दुस्सह उल्लास हुआ !

टूट गया वह जाग्रत स्वप्न
कि जिसमें मन उलझाए थी—
जाना, वही बुलाता है
जिस पर मैं ध्यान जमाए थी।
प्राणों में जिसे बसाए थी।

कहाँ ! किसी सूखे से तरु से
पात गिरे थे दो झर कर—
और फरास किसी झोंके से
आहत, रोए थे सर-सर !
दुखभरे, दीन, व्रीड़ा-जर्जर !

७३.

प्रिय, तुम हार-हारकर जीते !
जागा सोया प्यार सिहर कर,
प्राण-अर्घ्य से आँखें भर-भर ।
स्पर्श तुम्हारे से जीवित हैं, दिन वे कष के बीते !
कैसे मिलन-विरह के बन्धन ?
क्यों यह पीड़ा का आवाहन ?
कोष कभी जो साथ मेरे थे हो सकते क्या रीते !
प्रिय, तुम हार-हारकर जीते !

७४.

तेरी स्मित-ज्योत्स्ना के अर्णव
में मैं अपना-आप डुबो लूँ—
तेरी आँखों में आँखें खो
अपना अपनापन भी खो लूँ—

बह जावे प्राणों में संचित
युग-युग का वह कलुष व्यथा का—
तेरे आँचल से मुँह ढँककर
एक बार मैं जी भर रो लूँ !

७५

इस मन्दिर में तुम होगे क्या ?

इस उपासकों से क्या मुझको ?
ये तो आते ही रहते हैं।
जहाँ देव के चरण छू चुके—
सौरभ-निर्झर ही बहते हैं।

अब भी जीता पदस्पर्श ? मुझ
को यह बतला दोगे क्या ?

कितने वर्ष बाद आई हूँ
उन पर अपनी भेंट चढ़ाने !
मैं चिर-विमुख, झुकाकर मस्तक
कालान्तर को आज भुलाने !

क्या बोलूँ—यदि बोल भी सकूँ !
तुम आदेश करोगे क्या ?

पीठ शून्य भी हो, आँखें क्यों
करें न चरण-स्मृति का तर्पण !
देव ! देव ! उर आरति-दीपक !
यह लो मेरा मूक समर्पण !

मेरी उग्र दिदृक्षा को
माया से भी न वरोगे क्या ?
इस मन्दिर में तुम होगे क्या ?

प्रियतम, आज बहुत दिन बाद !
आँखों में आँसू बन चमकी तेरी कसक भरी-सी याद !

आज सुना है युगों-युगों पर
तेरे स्वर का मीठा मर्मर—
जिसे डुबाए था अब तक जग का वह निष्फल रौरव नाद !
प्रियतम, आज बहुत दिन बाद !

छिन्न हुआ अँधियारा अम्बर,
चला लोचनों से बह झर-झर
विपुल राशि में सञ्चित था जो मेरे प्राणों में अवसाद !
प्रियतम, आज बहुत दिन बाद !

रो लेने दो मुझको जी-भर
यही आज सुख सबसे बढ़कर !
मुझे न रोको आज कि मुझ पर छाया है उत्कट उन्माद !
प्रियतम, आज बहुत दिन बाद !

७७.

रजनी ऊषा में हुई मूक
कुछ रो-रोकर, कुछ काँप-काँप;
इस असह ज्योति से बचने को
मैंने मुख अपना लिया ढाँप !

याचना मात्र से कैसे निधि
पा लेगा जो था सदा क्षुद्र ?
युग-युग की प्यासी होकर भी
धूली क्या पी लेगी समुद्र !

मैं झुकूँ, डुबाते बह जाओ
ओ मेरे ही दुर्धर प्रवाह —
हे अतुल ! सोख लो अपने में
मेरे उर का खद्योत-दाह !

७८.

अगर तुम्हारी उपस्थिति में मैं अभिमान और अहंकार से भर जाती हूँ—
तो, प्रिय ! तुम उस धूली के अभिमान को याद कर लिया करो जो कि तुम्हारे पैरों के नीचे कुचली जाकर क्रुद्ध सर्प की तरह फुफकारकर उठ खड़ी होती है !

७९.

बार - बार रौरव जग का
मेरी आह्वान किया करता है :
मेरी अन्तर्ज्योति बुझा
देने को तम से नभ भरता है ।

पर प्रियतम ! जिन प्राणों पर
पड़ चुकी कभी भी तेरी छाया—
उन्हें खींच लेने की शक्ति
कहाँ से लावे उसको माया !

नीरव उर-मन्दिर में यह मन
तेरा ध्यान किया करता है—
यदपि सदा रौरव जग का
मेरा आह्वान किया करता है ।

८०.

मेरे उर में जिस भव्य आराधना का उपकरण हो रहा है, तुम उसके लक्ष्य, मेरे आराध्य, नहीं हो ।

मेरे उरस्थ मेरा तुम्हारे प्रति प्रेम—उस प्रेमव्रत के सम्यक् उद्यापन की कामना में निरत मेरी उग्र शक्ति—ही मेरी आराध्य है ।

तुम ? तुम हो उस आराधना के आरती-दीप, मेरे सहयोगी, मेरी उपासना को दीप्ति देनेवाले, मेरे प्रज्वलित प्राण ! पर मेरे उर में जिस भव्य आराधना का उपकरण हो रहा है, तुम उसके लक्ष्य, मेरे आराध्य, नहीं हो ।

८१.

मानव से कुछ ही ऊँचे, पर देव के समीप !
प्रियतम, प्राण, जीवन-दीप !

पार्थिव सुख-दुख, ओछे बन्धन,
कभी देख निर्बलता का क्षण,
घोट डालते क्रूर करों से
उर में छिपा हुआ भी स्पन्दन !

कब की भूली, आज जगी हूँ,
पुनः खोजने तुझे लगी हूँ,
इतने नीरस दिन बीते पर
अब भी तेरे प्रेम पगी हूँ !

तुझसे प्लावित मेरा स्तर-स्तर,
फिर भी क्षण भर तुझे अलग कर,
क्षमा माँग विनती करती हूँ—
प्रेम यदपि है सदा अनश्वर,
उसे भूमि से ऊँचा रखना, दिव्य के समीप !
प्रियतम, प्राण, जीवन दीप !

८२

शीत के घन अम्बर को चीर
स्नेह-स्पर्श-सा बहता आया सुरभित मलय समीर।

वन की वल्लरियाँ फिर फूलीं,
सुरभि-हिंडोलों हो पर झूलीं
उल्लस स्वर से फिर-फिर बोला पीपल-तरु पर कीर !

नीरसता भी हुई पल्लवित,
तेरा अंग-अंग मधु-प्लावित,
मद-रस से भर हरी हो गई मेरे उर की पीर !

तेरा प्यार, सुरभि-सा कोमल
अंग-राग-सा छाया परिमल,
आई हूँ अवगाहन करने स्नेह-तरी के तीर!

शीत-शिशिर के सूखे सपने
फिर अब क्यों दिन होंगे अपने?

अब मधु ही है प्राण हमारा, हम तुम एक शरीर!
शीत के घन अम्बर को चीर!

८३.

ओ अप्रतिम उरस्थ देवता मेरे!
मेरा जीवन, तेरी वेदी,
अंजलि बेसुध प्राणों ने दी;
पीड़ा से तीखे हृद्भेदी
भावों से जलते दीपों की सदा आरती तुझको घेरे!

फूल नहीं थे, तू ले आया,
मैं अवाक् थी, तू ने गाया:
बिना किए पूजा फल पाया,
मिटते-मिटते जाना मैंने लीन हुई मैं उर में तेरे!
ओ अप्रतिम उरस्थ देवता मेरे!

८४.

आशा के उठते स्वर पर
मैं मौन, प्राण, रह जाऊँ !
आशा, मधु, द्वार प्रणय का—
इससे आगे क्या गाऊँ ?

जीवन भर धक्के खाए
आहत भी हुए विलम्बित ;
पर दीप रहे यदि जलता
तो शिखा क्यों न हो कम्पित ?

विश्वात्मा ही यह जाने
हम सुखी हुए या असफल ;
मैं कहूँ कि यदि हम हारे—
वह हार बड़ी है कोमल !

कर पार समुद जीवन का
हम पीछे लौट न देखें,
बढ़ते अनन्त तक जावें,
इससे गुरु क्या सुख लेखें !

आशा, मधु, द्वार प्रणय का—
इससे आगे क्या गाऊँ ?
आशा के उठते स्वर पर
मैं मौन, प्राण, रह जाऊँ !

विज्ञप्ति

'चिन्ता' के कुछ पद्य अंग्रेजी कविताओं के भावानुवाद हैं। इनका ब्योरा इस प्रकार है : 'विश्वप्रिया' में सं० १६—'प्रियतमे ! उस एक वाक्य को दुहराओ' के भाव निकोलस रोरिक की एक कविता से, और सं० ६८—'मैं तुम्हारी समाधि पर प्रज्वलित एक मात्र दीप हूँ' के भाव डी० एच० लारेंस की एक कविता से लिये गये हैं। 'एकायन' में सं० ३५ के एक पद की दो पंक्तियाँ -

'ईश्वर बनकर मन्त्रशक्ति से छू दे मेरा भाल—
मात्र पुरुष रह बाँध भुजों से मर्माहत कर डाल !'

ब्राउनिंग के एक पद का रूपान्तर है। इन तीनों का ऋण स्वीकार करते हुए लेखक कृतज्ञता के साथ आनन्द का अनुभव करता है, क्योंकि इन कवियों से उसने जीवन के दुभर क्षणों में सान्त्वना पाई थी।